संक्षिप्त
सत्यार्थप्रकाश

वैदिकाश्रम ग्रन्थमाला संख्या नं० ८.

* ओ३म् *

श्रीमद्दयानन्द ऐङ्गलो वैदिक कालेज-स्वर्णजयन्ती

का उपहार

# संक्षिप्त सत्यार्थ प्रकाश

अर्थात्

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामिविरचित सत्यार्थप्रकाश का संक्षेप





सम्पादक

पं० ऋषिराम बी. ए.

आचार्य

दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय लाहौर

प्रकाशक

श्री देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर ने

श्रीमती प्रबन्धकर्त्री सभा

डी. ए. वी. कालेज लाहौर के लिये प्रकाशित किया

प्रथम वार ५००० | दयानन्दाब्द ११२ वैक्रमाब्द १९९३ | मूल्य— स्थिर ग्राहकों से—

| | |
|---|---|
| वेदसंदेश १म भाग २य संस्करण | १॥) |
| वेदसंदेश २य भाग | १) |
| वेदसंदेश ३य भाग | १) |
| वेदसंदेश ४र्थ भाग | १) |
| देवयज्ञ प्रदीपिका | १।) |
| वेदसार | ॥=) |

**पताः—मैनेजर वैदिकाश्रम ग्रन्थमाला लाहौर।**

मुद्रकः—

भूषण प्रेस

१७ मैकलेगन रोड,

लाहौर।

# सम्पादक के दो शब्द

सत्यार्थप्रकाश स्वामीदयानन्द सरस्वती जी के मुख्य ग्रन्थों में से है। इस पुस्तक ने धार्मिक जगत् में एक विशेष क्रान्ति पैदा कर दी है। इसके पाठ ने अनेक जिज्ञासु लोगों के जीवन में अलौकिक परिवर्तन किया है। वैदिक धर्म के व्यापक स्वरूप को बतलाने और असत्य के खण्डन में यह एक अनुपम साधन है। भारतवर्ष की प्राय: सभी प्रान्तीय भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। इसकी लाखों प्रतियां छपकर वितरण हुई हैं। इस ग्रन्थ का जितना भी प्रचार किया जाय थोड़ा है।

६०० पृष्ठ की बृहदाकार पुस्तक को देखकर बहुत से भाई उदासीन हो जाते हैं। और इतना बड़ा ग्रन्थ पढ़ने में उनकी रुचि तथा उत्साह नहीं होता। श्रीमद्दयानन्द कालेज कमेटी ने इस वर्ष कालेज का स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव मनाने का निश्चय किया है। उसके उपलक्ष्य में यह भी निश्चय किया है कि सत्यार्थप्रकाश का एक संग्रह (an abrydged eddtion) छाप कर विद्यार्थियों को भेंट किया जावे। कमेटी ने यह कार्य मेरे सपुर्द किया है।

मैंने श्रीमान्य ला० साईंदास जी एम. ए. भूतपूर्व प्रिन्सीपल दयानन्द कालेज की सहायता से यह संग्रह तय्यार किया है। चूंकि पुस्तक की पृष्ठ संख्या अढ़ाई सौ के लगभग करनी थी, अत: प्रथम दश समुल्लास में से जो भाग कठिन तथा अधिक विस्तृत समझे गये, उनको छोड़ दिया गया है। शेष भाग स्वामी जी के अपने शब्दों तथा भाषा में रखागया है।

यह छोटा ग्रन्थ बृहत् सत्यार्थप्रकाश को पढ़ने की तय्यारी मात्र है। जो धर्म का खण्डन मण्डनात्मक ज्ञान पूरी तरह से लेना चाहेंगे, उनके लिये समग्र सत्यार्थ प्रकाश का पाठ अनिवार्य रहेगा। इन शब्दों के साथ मैं यह संस्करण पाठकों की भेंट करता हूं।

दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय<br>वैदिकाश्रम लाहौर<br>३०-४-३६

ऋषिराम<br>आचार्य

# अथ संक्षिप्त सत्यार्थप्रकाशस्य सूचीपत्रम् ।

# ❀ भूमिका ❀

—:❀:—

"यह ग्रन्थ १४ ( चौदह ) समुल्लास अर्थात् चौदह विभागों में रचा गया है । इसमें १० ( दस ) समुल्लास पूर्वार्द्ध और ४ (चार) उत्तरार्द्ध में बने हैं, परन्तु अन्त्य के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त किसी कारण से प्रथम नहीं छप सके थे अब वे भी छपवा दिये हैं ।

( १ ) प्रथम समुलास में ईश्वर के ओंकारादि नामों की व्याख्या ।

( २ ) द्वितीय समुल्लास में सन्तानों की शिक्षा ।

( ३ ) तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचर्य्य, पठनपाठन व्यवस्था; सत्यासत्य ग्रन्थों के नाम और पढ़ने पढ़ाने की रीति ।

( ४ ) चतुर्थ समुल्लास में विवाह और गृहाश्रम का व्यवहार ।

( ५ ) पञ्चम समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की विधि ।

( ६ ) छठे समुल्लास में राजधर्म ।

( ७ ) सप्तम समुल्लास में वेदेश्वर विषय ।

( ८ ) अष्टम समुल्लास में जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय ।

( ९ ) नवम समुल्लास में विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या ।

(१०) दशवें समुल्लास में आचार, अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य विषय ।

(११) एकादश समुल्लास में आर्य्यावर्त्तीय मतमतान्तर का खण्डन मण्डन विषय ।

(१२) द्वादश समुल्लास में चार्वाक, बौद्ध और जैनमत का विषय ।

(१३) त्रयोदश समुल्लास में ईसाईमत का विषय ।

(१४) चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत का विषय । और चौदह समुल्लासों के अन्त में आर्य्यों के सनातन वेदविहित

मत की विशेषतः व्याख्या लिखी है, जिसको मैं भी यथावत मानता हूँ ।

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य २ अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय । किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है । जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं होसकता । इसलिये विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित करदें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें । मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है । तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है । परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है । किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है ।

इस ग्रन्थ में जो कहीं २ भूल चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल चूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा वह

सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा। और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका वा खण्डन मण्डन करेगा उसपर ध्यान न दिया जायगा। हां जो वह मनुष्य मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा। यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं। वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त, अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकूल, सब में सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है। इनमें से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर प्रवृत्त होता है उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु—

**सत्यमेव जयते नानृतं।**
**सत्येन पन्था विततो देवयानः॥**

अर्थात्, सर्वदा सत्य की विजय और असत्य की पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है, इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थप्रकाश करने से नहीं हटते। यह बड़ा दृढ़ निश्चय है कि

**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।**

यह गीता [अ० १८। ३७] का वचन है इसका अभिप्राय यह है कि जो २ विद्या और धर्म प्राप्ति के कर्म हैं वे प्रथम करने में विष के तुल्य और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं। ऐसी बातों

को चित्त में धर के मैंने इस ग्रन्थ को रचा है । श्रोता वा पाठकगण भी प्रथम प्रेम से देख के इस ग्रन्थ का सत्य २ तात्पर्य जान कर यथेष्ट करें । इसमें यह अभिप्राय रखा गया है कि जो २ सब मतों में सत्य २ बातें हैं, वे २ सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो २ मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन २ का खण्डन किया है । इसमें यह भी अभिप्राय रखा है कि जब मतमतान्तरों की गुप्त वा प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान्, अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रखा है जिससे सबसे सबका विचार होकर, परस्पर प्रेमी हो के एक सत्य मतस्थ होवें । यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नतिवालों के साथ भी वर्त्तता हूँ, जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी, तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है । क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं ।

यद्यपि इस ग्रन्थ को देख कर अविद्वान् लोग अन्यथा ही विचारेंगे तथापि बुद्धिमान् लोग यथायोग्य इसका अभिप्राय समझेंगे । इसलिये मैं अपने परिश्रम को सफल समझता और अपना अभिप्राय सब सज्जनों के सामने धरता हूँ । इसको देख दिखला के मेरे श्रम को सफल करें ।

स्थान महाराणाजी का उदयपुर,<br>भाद्रपद शुक्लपक्ष संवत् १९३९ } दयानन्द सरस्वती

❀ ओ३म् ❀

॥ सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः ॥

# अथ संक्षिप्त सत्यार्थप्रकाशः
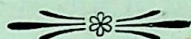
## प्रथम समुल्लासः

ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥ नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारम्॥ ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः॥ १॥

अर्थ—(ओ३म्) यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इसमें जो अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक 'ओम्' समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं, जैसे–अकार से विराट, अग्नि और

विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है। उसका ऐसा ही वेदादि सत्य शास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं।

## अथ मन्त्रार्थः

ओ३म् खम्ब्रह्म ॥ १ ॥ यजुः अ० ४० । मं० १७ ॥

देखिये वेदों में ऐसे २ प्रकरणों में 'ओम्' आदि परमेश्वर के नाम हैं।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥ छान्दोग्य उपनिषत् [ मं० १ ]

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥ ३ ॥
माण्डूक्य [ मं० १ ]

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ ४ ॥ कठोपनिषदि [वल्ली २ । मं० १५]

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ ५ ॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६ ॥
[ मनु० अ० १२। श्लो० १२२, १२३ ]

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट् । स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः ॥ ७ ॥
कैवल्य उपनिषत् [ १ । ८ ॥ ]

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ८ ॥
ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ४६ ॥

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री । पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः ॥ ९ ॥

यजु० अ० १३ । मं० १८ ॥

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्य्यमरोचयत् ।
इन्द्रेह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः ॥१०॥
सामवेद प्रपा० ७ । अ०प्र०३ । त्रिक ८ । मं० २ ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ११ ॥
अथर्ववेदे काण्ड ११ । अ० २ । सू० ४ । मं० १॥

अथ – यहां इन प्रमाणों के लिखने में तात्पर्य यही है कि जो ऐसे २ प्रमाणों में ओंकारादि नामों से परमात्मा का ग्रहण होता है यह लिख आये। तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं। जैसे लोक में दरिद्री आदि के धनपति नाम होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं। "ओ३म्" आदि नाम सार्थक हैं जैसे (ओं खं०) अवतीत्योम्, आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्। सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म। रक्षा करने से (ओ३म्) आकाशवत् व्यापक होने से 'खम्' और सब से बड़ा होने से 'ब्रह्म' ईश्वर का नाम है ॥ १ ॥ (ओमित्येत०) 'ओ३म्' जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता उसी की उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं ॥ २ ॥ (ओमित्येत०) सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम 'ओ३म्' को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं ॥ ३ ॥ (सर्वे वेदा०) क्योंकि सब वेद सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं उसका नाम "ओ३म्" है ॥ ४॥

(प्रशासिता०) जो सब को शिक्षा देने हारा, सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, उसको परम पुरुष जानना चाहिये ॥ ५ ॥ और स्वप्रकाश होने से 'अग्नि', विज्ञानस्वरूप होने से 'मनु' सब का पालन करने से 'प्रजापति' और परमैश्वर्य्यवान् होने से 'इन्द्र' सब का जीवन

मूल होने से 'प्राण' और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है ।६। (स ब्रह्मा स विष्णुः०) सब जगत् के बनाने से 'ब्रह्मा', सर्वत्र व्यापक होने से 'विष्णु', दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से 'रुद्र', मङ्गलमय और सब का कल्याणकर्त्ता होने से 'शिव'।

यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम् ॥१॥ यः स्वयं राजते स स्वराट् ॥२॥ योऽग्निरिव कालःकलयिता प्रलयकर्त्ता स कालाग्निरीश्वरः ॥ ३ ॥ 'अक्षर' जो सर्वत्र व्याप्त, अविनाशी. 'स्वराट्' स्वयं प्रकाशस्वरूप और 'कालाग्नि' प्रलय में सब का काल और काल का भी काल है इसलिये परमेश्वर का नाम 'कालाग्नि' है ॥ ७ ॥

(इन्द्रं मित्रं०) जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म वस्तु है उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं। द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः। शोभनानि पर्णानि कर्माणि वा यस्य सः। यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्। यो मातरिश्वा वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा। 'दिव्य' जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त, 'सुपर्ण' जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं, 'गरुत्मान्' जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है, 'मातरिश्वा' जो वायु के समान अनन्त बलवान् है। इसलिये परमात्मा के 'दिव्य', 'सुपर्ण', 'गरुत्मान्' और 'मातरिश्वा' ये नाम हैं। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ॥ ८ ॥ (भूमिरसि०) "भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः" जिस

में सब भूत प्राणी होते हैं इसलिये ईश्वर का नाम "भूमि" है। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ॥ ९ ॥

( इन्द्रो मह्ना० ) इस मन्त्र में 'इन्द्र' परमेश्वर ही का नाम है इसलिये यह प्रमाण लिखा है ॥ १० ॥

( प्राणाय० ) जैसे प्राण के वश सब शरीर और इन्द्रियां होती हैं वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है ॥ ११ ॥

इत्यादि प्रमाणों के ठीक २ अर्थों के जानने से इन नामों करके परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। क्योंकि ओ३म् और अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता। जैसा कि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि ऋषि मुनियों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है वैसा ग्रहण करना सब को योग्य है, परन्तु "ओ३म्" यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं। इस से क्या सिद्ध हुआ कि जहां २ स्तुति, प्रार्थना उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है और जहां जहां ऐसे प्रकरण हैं कि:--

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ॥ ५ ॥
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥
तेन देवा अयजन्त ॥ ९ ॥ पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥
यजुः अ० ३१ ॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥ [ तै० उ० ब्रह्मा० वल्ली अ० १ ]

यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है। ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं। क्योंकि जहां जहां उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों वहां वहां परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् हैं और उपरोक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं। इसी से यहां विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है। किन्तु जहां जहां सर्वज्ञादि विशेषण हों वहां वहां परमात्मा और जहां जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहां वहां जीव का ग्रहण होता है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये, क्योंकि परमेश्वर का जन्म मरण कभी नहीं होता इससे विराट् आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है, परमेश्वर का नहीं।

---

# अथ द्वितीयसमुल्लासारम्भः

## अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः ॥

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥

यह शतपथ ब्राह्मण [ का० १४ । ८ । ५ । २ ॥ ] का वचन है। वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य ! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् ! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से संतानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम [ और ] उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता, इसलिये ( मातृमान् ) अर्थात् 'प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान् ।' धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे ॥

माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य, दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करे वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट,

अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें कि जिससे रजस् वीर्य्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हों। जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजोदर्शन के पांचवें दिवस से लेकर सोलहवें दिवस तक ऋतुदान देने का समय है। पुनः जब तक ऋतुदान का समय पूर्वोक्त न आवे तब तक और गर्भ स्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक संयुक्त न हों। जब दोनों के शरीर में आरोग्य, परस्पर प्रसन्नता, किसी प्रकार का शोक न हो। जैसा चरक और सुश्रुत में भोजन छादन का विधान और मनुस्मृति में स्त्री पुरुष की प्रसन्नता की रीति लिखी है उसी प्रकार करें और वर्त्तें। गर्भाधान के पश्चात् स्त्री को बहुत सावधानी से भोजन छादन करना चाहिये। पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त स्त्री पुरुष का सङ्ग न करे। बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम, शान्ति, आदि गुणकारक द्रव्यों ही का सेवन स्त्री करती रहे कि जब तक सन्तान का जन्म न हो।

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पष्ट प्रयत्न, दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक २ बोल सकना। मधुर, गम्भीर, सुन्दर, स्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य, संहिता, अवसान, भिन्न भिन्न

श्रवण होवे। जब वह कुछ २ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बड़े, छोटे, मान्य, पिता, माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्त्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें, जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें। उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता, नपुंसकता होती और हस्त में दुर्गन्ध भी होता है इससे उसका स्पर्श न करें। सदा सत्य भाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें। जब पांच २ वर्ष के लड़का लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें। अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य, आदि से कैसे कैसे वर्त्तना इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य, भी अर्थ सहित कंठस्थ करावें। जिनसे सन्तान किसी धूर्त के बहकाने में न आवें और जो २ विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्ति जाल में गिराने वाले व्यवहार हैं उन का भी उपदेश करदें, जिससे भूत प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।

प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ॥

मनु० [ अ० ५ । ६५ ]

अर्थ—जब गुरु का प्राणान्त हो तब मृतक शरीर जिसका नाम 'प्रेत' है। उसका दाह करने हारा शिष्य 'प्रेतहार' अर्थात् मृतक को उठाने वालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है। और जब उस शरीर का दाह हो चुका तब उसका नाम 'भूत' होता है अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने उत्पन्न हों वर्त्तमान में आ के न रहें वे भूतस्थ होने से उनका नाम 'भूत' है। ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है, परन्तु जिसको शङ्का, कुसंग, कुसंस्कार होता है उसको भय और शङ्का रूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी, आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं।

देखो, जब कोई प्राणी मरता है तब उसका जीव पाप, पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है? अज्ञानी लोग वैद्यकशास्त्र वा पदार्थ विद्या के पढ़ने सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपात ज्वरादि शारीरिक और उन्मादकादि मानस रोगों का नाम भूत प्रेतादि धरते हैं। उनका औषध सेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त, पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भङ्गी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग

छल. कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा, धागा आदि मिथ्या मन्त्र, यन्त्र बांधते बंधवाते फिरते हैं, अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा और रोगों को बढ़ाकर दुःख देते फिरते हैं। जब आंख के अन्धे और गांठ के पूरे उन दुर्बुद्धि, पापी स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि 'महाराज' ! इस लड़का, लड़की, स्त्री और पुरुष को न जाने क्या हो गया है ?' तब वे बोलते हैं कि 'इसके शरीर में बड़ा भूत, प्रेत, भैरव, शीतला, आदि देवी आ गई हैं, जब तक तुम इसका उपाय न करोगे तब तक ये न छूटेंगे और प्राण भी ले लेंगे। जो तुम मलीदा वा इतनी भेंट दो तो हम मन्त्र, जप, पुरश्चरण से झाड़ के इनको निकाल दें। तब वे अन्धे और उनके सम्बन्धी बोलते हैं कि 'महाराज ! चाहे हमारा सर्वस्व जाओ परन्तु इनको अच्छा कर दीजिये।' तब तो उनकी बन पड़ती है। वे धूर्त्त कहते हैं 'अच्छा लाओ इतनी सामग्री, इतनी दक्षिणा, देवता को भेंट और ग्रहदान कराओ। झांझ, मृदङ्ग, ढोल, थाली लेके उसके सामने बजाते, गाते और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच कूद के कहता है 'मैं इसका प्राण ही ले लूंगा। तब वे अन्धे उस भङ्गी चमार आदि नीच के पगों में पड़ के कहते हैं 'आप चाहें सो लीजिये इसको बचाइये।' तब वह धूर्त्त बोलता है 'मैं हनुमान हूं, लाओ पक्की मिठाई, तेल सिन्दूर, सवा मन का रोट और लाल लंगोट।' 'मैं देवी वा भैरव हूं, लाओ पांच बोतल मद्य, बीस मुर्गी, पांच बकरे, मिठाई और वस्त्र।' जब वे कहते हैं कि 'जो चाहो सो लो' तब तो वह पागल बहुत नाचने

कूदने लगता है। परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट पांच जूता, दंडा व चपेटा, लातें मारे तो उसके हनुमान्, देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं, क्योंकि वह उनका केवल धनादि हरण करने के प्रयोजनार्थ ढोंग है।

और जब किसी ग्रहग्रस्त ग्रहरूप, ज्योतिर्विदाभास के पास जा के वे कहते हैं 'हे महाराज! इसको क्या है?' तब वे कहते हैं कि इस पर सूर्य्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो इनकी शान्ति पाठ, पूजा, दान कराओ तो इसको सुख हो जाय, नहीं तो बहुत पीड़ित होकर मर जाय तो भी आश्चर्य नहीं।

(उत्तर) कहिये ज्योतिर्वित्! जैसी यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्य्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन हैं जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें?

(प्रश्न) क्या जो यह संसार में राजा प्रजा सुखी दुखी हो रहे हैं यह ग्रहों का फल नहीं है? (उत्तर) नहीं, ये सब पाप पुण्यों के फल हैं।

(प्रश्न) तो क्या ज्योतिःशास्त्र झूठा है? (उत्तर) नहीं, जो उसमें अङ्क, बीज, रेखागणित विद्या है वह सब सच्ची, जो फल की लीला है वह सब झूठी है।

(प्रश्न) क्या जो यह जन्मपत्र है सो निष्फल है? (उत्तर) हां, वह जन्मपत्र नहीं किन्तु उसका नाम, 'शोकपत्र' रखना चाहिये क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सब को

आनन्द होता है परन्तु वह आनन्द तब तक होता है कि जब तक जन्मपत्र बन के ग्रहों का फल न सुनें, जब पुरोहित जन्मपत्र बनाने को कहता है तब उसके माता, पिता पुरोहित से कहते हैं 'महाराज ! आप बहुत अच्छा जन्मपत्र बनाइये।' जो धनाढ्य हो तो बहुत सी लाल पीली रेखाओं से चित्र विचित्र और निर्धन हो तो साधारण रीति से जन्मपत्र बना के सुनाने को आता है तब उसके मा बाप ज्योतिषी जी के सामने बैठ के कहते हैं इसका जन्मपत्र अच्छा तो है?' ज्योतिषी कहता है 'जो है सो सुना देता हूं'। इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी बहुत अच्छे हैं जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान्, जिस सभा में जा बैठेगा तो सब के ऊपर इसका तेज पड़ेगा, शरीर से आरोग्य और राज्यमानी होगा।' इत्यादि बातें सुनके पिता आदि बोलते हैं 'वाह २ ज्योतिषीजी आप बहुत अच्छे हो।' ज्योतिषीजी समझते हैं, इन बातों से कार्य्य सिद्ध नहीं होता। तब ज्योतिषी बोलता है कि 'यह ग्रह तो बहुत अच्छे हैं परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं अर्थात् फलाने २ ग्रह के योग से ८ वर्ष में इसका मृत्युयोग है।' इसको सुनके माता पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़ के, शोकसागर में डूबकर ज्योतिषी जी से कहते हैं कि 'महाराजजी ! अब हम क्या करें?' तब ज्योतिषी कहते हैं 'उपाय करो'। गृहस्थ पूछे क्या उपाय करें। ज्योतिषी जी प्रस्ताव करने लगते हैं कि ऐसा २ दान करो। ग्रह के मन्त्र का जप कराओ नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओगे तो अनुमान है कि नव

ग्रहों के विघ्न हट जायेंगे। अनुमान शब्द इसलिये है कि जो मर जायगा तो कहेंगे हम क्या करें, परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है, हमने तो बहुतसा यत्न किया और तुमने कराया उसके कर्म ऐसे ही थे। और जो बच जाय तो कहते हैं कि देखो, हमारे मन्त्र, देवता और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है तुम्हारे लड़के को बचा दिया। यहां यह बात होनी चाहिये कि जो इनके जप पाठ से कुछ न हो तो दूने तिगुने रुपये उन धूर्तों से ले लेने चाहियें और बच जाय तो भी ले लेने चाहियें क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा कि 'इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी का नहीं वैसे गृहस्थ भी कहें कि 'यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा है तुम्हारे करने से नहीं और तीसरे, गुरु आदि भी पुण्यदान कराके आप ले लेते हैं तो उनको भी वही उत्तर देना जो ज्योतिषियों को दिया था।

अब रह गई शीतला और मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि। ये भी ऐसे ही ढोंग मचाते हैं। कोई कहता है कि जो हम मन्त्र पढ़ के डोरा वा यन्त्र बना देवें तो हमारे देवता और पीर उस मन्त्र यन्त्र के प्रताप से उसको कोई विघ्न नहीं होने देते, इनको वही उत्तर देना चाहिये कि क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे! तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं और तुम्हारे घर में भी मरजाते हैं और क्या तुम मरण से बच सकोगे? तब वे कुछ भी नहीं कह सकते और वे धूर्त जान लेते हैं कि यहां हमारी दाल नहीं

गलेगी, इससे इन सब मिथ्या व्यवहारों को छोड़ कर धार्मिक सब देश के उपकार कर्ता निष्कपटता से सबको विद्या पढ़ाने वाले, उत्तम विद्वान लोगों का प्रत्युपकार करना, जैसा वे जगत का उपकार करते हैं, इस काम को कभी न छोड़ना चाहिये। और जितनी लीला रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करना कहते हैं उनको भी महापामर समझना चाहिये। इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डाल दें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़के दुःख न पावें और वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख प्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट होजाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जबतक हम लोग गृहकर्मों के करने वाले जीते हैं तभी तक तुमको विद्या ग्रहण और शरीर

का बल बढ़ाना चाहिये ।' इसी प्रकार की अन्य २ शिक्षा भी माता और पिता करें। इसी लिये 'मातृमान् पितृमान्' शब्द का ग्रहण उक्त वचन में किया है अर्थात् जन्म से ५ वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ ठे वर्ष से ८ वें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और ९ वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य्यकुल में अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाली हों वहां लड़के और लड़कियों को भेज दें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये विना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेज दें । उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं । इसमें व्याकरण महाभाष्य का प्रमाण है:—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताड़नाश्रयिणो गुणाः ॥

[अ० ८ । १ । ८]

अर्थ—जो माता पिता और आचार्य्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं वे जानो अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न करते हैं वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिला के नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं। और सन्तान और शिष्य लोग भी ताड़ना से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न

सदा रहा करें। परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें। किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें। जैसी अन्य शिक्षा की वैसी चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, मोह आदि दोषों के छोड़ने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें। क्योंकि जिस पुरुष ने जिसके सामने एक वार चोरी, जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्य्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करने वाले की होती है वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी उसके साथ वैसे ही पूरी करनी चाहिये अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'मैं तुमको वा तुम मुझसे अमुक समय में मिलूंगा वा मिलना, अथवा अमुक वस्तु अमुक समय में तुमको मैं दूंगा' इसको वैसे ही पूरी करे, नहीं तो उसकी प्रतीत कोई भी न करेगा। इसलिये सदा सत्यभाषण और सत्यप्रतिज्ञायुक्त सब को होना चाहिये। किसी को अभिमान न करना चाहिये। छल, कपट वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है तो दूसरे की क्या कथा कहनी चाहिये। छल और कपट उसको कहते हैं जो भीतर और, बाहर और रख दूसरे को मोह में डाल और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना। 'कृतघ्नता' उसको कहते हैं कि किसी के किये हुए उपकार को न मानना। क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले और बहुत बकवाद न

करे। जितना बोलना चाहिये उससे न्यून वा अधिक न बोले। बड़ों को मान्य दे, उनके सामने उठकर जा के उच्चासन पर बैठावे, प्रथम 'नमस्ते' करे। उनके सामने उत्तमासन पर न बैठे। सभा में वैसे स्थान में बैठे जैसी अपनी योग्यता हो और दूसरा कोई न उठावे। विरोध किसी से न करे। सम्पन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का संग और दुष्टों का त्याग, अपने माता, पिता और आचार्य की तन, मन और धनादि उत्तम उत्तम पदार्थों से प्रीति पूर्वक सेवा करे।

यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥
तैत्ति० [ प्रपा० ७ अनु० ११ ]

इसका यह अभिप्राय है कि माता, पिता, आचार्य्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहें कि जो जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं उन उनका ग्रहण और जो २ दुष्ट कर्म हों उनका त्याग कर दिया करो। जो २ सत्य जानें उन २ का प्रकाश और प्रचार करें। किसी पाखण्डी, दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करें और जिस २ उत्तम कर्म के लिये माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें उस २ का यथेष्ट पालन करें, जैसे माता पिता ने धर्म, विद्या, अच्छे आचरण के श्लोक 'निघण्टु', 'निरुक्त', 'अष्टाध्यायी' अथवा अन्य सूत्र वा वेदमन्त्र कण्ठस्थ कराये हों उन २ का पुनः अर्थ विद्यार्थियों को विदित करावें। जैसे प्रथम समुल्लास में परमेश्वर का व्याख्यान

किया है उसी प्रकार मानके उसकी उपासना करें। जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो उसी प्रकार भोजन, छादन और व्यवहार करें, करावें, अर्थात् जितनी क्षुधा हो उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्य मांसादि के सेवन से अलग रहें। अज्ञात गम्भीर जल में प्रवेश न करें क्योंकि जलजन्तु वा किसी अन्य पदार्थ से दुःख और जो तरना न जाने तो डूब ही जा सकता है। 'नाविज्ञाते जलाशये।' यह मनु [ ४ । १२६ ] का वचन है, अविज्ञात जलाशय में प्रविष्ट होके स्नानादि न करें।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥

मनु० [ अ० ६ । ४६ ]

अर्थ नीचे दृष्टि कर ऊंचे नीचे स्थान को देख के चले, वस्त्र से छान के जल पीवे, सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन से विचार के आचरण करे।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥

चाणक्यनीति अध्या० २ । श्लो० ११ ॥

वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं, जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई, वे विद्वानों की सभा में वैसे

तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं जैसे हंसों के बीच में बगुला। यही माता पिता का कर्त्तव्य कर्म, परम धर्म और कीर्त्ति का काम है जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षायुक्त करना। यह बालशिक्षा में थोड़ा सा लिखा, इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।

---

# अथ तृतीयसमुल्लासारम्भः

## अथाऽध्ययनाध्यापनविधिं व्याख्यास्यामः ।

अब तीसरे समुल्लास में पढ़ने पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं। सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने, चांदी, माणिक, मोती, मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता। क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों का मृत्यु दुष्टों के हाथ से होता है।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः ।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥

जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त, सत्य भाषणादि नियम पालनयुक्त,

और जो अभिमान, अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं। वे नर और नारी धन्य हैं। इसलिये आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी संस्कार करके यथोक्त आचार्य्य कुल अर्थात् अपनी २ पाठशाला में भेज दें। विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये। और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहिये। जो वहां अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य, अनुचर हों वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन एकान्त-सेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें। पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस

दूर ग्राम वा नगर रहे । सबको तुल्य वस्त्र, खान पान, आसन दिये जायँ, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिये । उनके माता पिता अपने अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या पढ़ाने की चिन्ता रक्खें । जब भ्रमण करने को जायें तब उनके साथ अध्यापक रहें जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें ।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ।

मनु० [अ० ७ । श्लोक १५२]

इसका अभिप्राय यह है कि इसमें राजनियम और जाति नियम होना चाहिये कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में म रख सके । पाठशाला में अवश्य भेज देवे, जो न भेजे वह दण्डनीय हो । प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्य्यकुल में हो । पिता माता वा अध्यापक अपने लड़का लड़कियों को अर्थसहित गायत्री मन्त्र का उदेश कर दें । वह मन्त्र यह है—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ [ यजु० अ० ३६ । म० ३ ]

इस मन्त्र में जो प्रथम 'ओ३म्' है उसका अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं। (भूरिति वै प्राणः। यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः।) जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है उस प्राण का वाचक होके 'भू' परमेश्वर का नाम है। (भुवरित्यपानः। यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः।) जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'भुवः'। स्वरिति व्यानः। यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः।) जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सब का धारण करता है इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। ये तीनों वचन तैत्तिरीय आरण्यक [प्रपा० ७। अनु० ५] के हैं। (सवितुः, यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य) जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है, (देवस्य, यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः) जो सर्व सुखों का देनेहारा और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्, वर्त्तुमर्हम्) स्वीकार करने योग्य, अति श्रेष्ठ, (भर्गः, शुद्धस्वरूपम्) शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्मस्वरूप है (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि, धरेमहि) धारण

करें। किस प्रयोजन के लिये कि (यः जगदीश्वरः) जो सविता देव, परमात्मा (नः, अस्माकम्) हमारी (धियः, बुद्धीः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्, प्ररेयेत्) प्रेरणा करे, अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

हे परमेश्वर! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप! हे नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव! हे अज निरञ्जन निर्विकार! हे सर्वान्त-र्यामिन्! हे सर्वाधार जगत्पते! सकलजगदुत्पादक! हे अनादे! विश्वम्भर! सर्वव्यापिन्! हे करुणामृतवारिधे! सवितुर्देवस्य तव यदों भूर्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति तद्वयं धीमहि, दधीमहि, धरेमहि, ध्यायेम वा। कस्मै प्रयोजनायेत्य-त्राह! हे भगवन्! यः सविता देवः परमेश्वरो भवानस्माकं धियः प्रचोदयात्। स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु नातोऽन्यं भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च कश्चित् कदाचि-न्मन्यामहे।

हे मनुष्यो! जो सब समर्थों में समर्थ सच्चिदानन्दानन्त-स्वरूप, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्तस्वभाववाला, कृपा-सागर, ठीक २ न्याय का करने हारा, जन्म-मरणादि-क्लेशरहित, आकाररहित, सबके घट २ का जाननेवाला, सब का धर्त्ता, पिता, उत्पादक, अन्नादि से विश्व का पोषण करने हारा, सकल ऐश्वर्य्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप और जो प्राप्ति की

कामना करने योग्य है उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है, उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिये कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार अधर्म्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार सत्यमार्ग में चलावे। उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग न करें। क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देने हारा है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं सिखलावें। प्रथम स्नान इसलिये है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं। इसमें प्रमाण—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

[ मनु० अ० ५। श्लोक १०६ ]

यह मनुस्मृति का श्लोक है। जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सह के धर्म ही के अनुष्ठान करने से जीवात्मा, ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि, दृढ़ निश्चय पवित्र होते हैं। इससे स्नान भोजन के पूर्व अवश्य करना। दूसरा प्राणायाम, इस में प्रमाण—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥

[ योग० साधनपादे सू० २८ ]

यह योगशास्त्र का सूत्र है। जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

[ मनु० अ० ६। ७१ ]

यह मनुस्मृति का श्लोक है। जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं। प्राणायाम का विधि—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥

योग० [ समाधिपादे० ] सू० [ ३४ ]

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न जल बाहर निकल जाता है वैसे प्राण को बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रक्खे, तकतक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे २ भीतर वायु को ले के फिर भी वैसे ही करता जाय,

जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में 'ओ३म्' इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन को पवित्रता और स्थिरता होती है। एक 'बाह्यविषय' अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा 'आभ्यन्तर' अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय उतना रोक के। तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' अर्थात् एक ही वार जहां का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा 'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी' अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उससे विरुद्ध न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप होजाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे। भोजन, छादन, बैठने, उठने, बोलने, चालने, बड़े छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करें। सन्ध्योपासन जिसको ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। 'आचमन' उतने जल को हथेली में ले के उसके मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगा के करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुँचे, न उससे अधिक न न्यून। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी सी

होती है । पश्चात् 'मार्जन' अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुली के अग्रभाग से नेत्रादि अंगों पर जल छिड़के । उससे आलस्य दूर होता है । जो आलस्य और जल प्राप्त न हो तो न करे । पुनः समन्त्रक प्रणायाम, मनसापरिक्रमण, उपस्थान, पीछे परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की रीति सिखलावे । पश्चात् 'अघमर्षण' अर्थात् पाप करने की इच्छा भी कभी न करे । यह सन्ध्योपासन एकान्त देश में एकाग्रचित्त से करे ।

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥

[मनु० अ० २ । १०४]

यह मनुस्मृति का वचन है । जंगल में अर्थात् एकान्त देश मे जा, सावधान हो के, जल के समीप स्थित हो के नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल चलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है । दूसरा देवयज्ञ जो अग्निहोत्र और विद्वानों का संग सेवादिक से होता है । सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं प्रातः दो ही काल में करे । दो ही रात दिन की सन्धिवेला हैं, अन्य नहीं । न्यून से न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करे । जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे । तथा सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करने का

समय है उसके लिये एक किसी धातु वा मट्टी के ऊपर १२ वा १६ अंगुल चौकोन उतनी ही गहरी और नीचे ३ वा ४ अंगुल

परिमाण से वेदी इस प्रकार बनावें अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो उसकी चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहे । उसमें चंदन पलाश वा आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े छोटे करके उसमें रक्खे, उसके मध्य में अग्नि रखके पुनः उस पर समिधा अर्थात् पूर्वोक्त इन्धन रख दे । एक
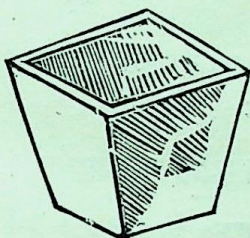
ऐसा और तीसरा प्रणीतापात्र
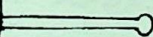
इस प्रकार का और एक

इस प्रकार की आज्यस्थाली अर्थात् घृत रखने का पात्र और चमसा
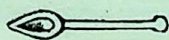
ऐसा सोने, चांदी वा काष्ठ का बनवा के प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा घृतपात्र में घृत रख के घृत को तपा लेवे । प्रणीता जल रखने और प्रोक्षणी इसलिये है कि उससे हाथ धोने को जल लेना सुगम है । पश्चात् उस घी को अच्छे प्रकार देख लेवे फिर इन मन्त्रों से होम करे ।

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा । भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा । स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा । भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥

इत्यादि अग्निहोत्र के प्रत्येक मन्त्र को पढ़ कर एक २ आहुति देवे और जो अधिक आहुति देना हो तो:—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥
[यजु० अ० ३० । ३]

इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्री मन्त्र से आहुति देवें । 'ओं भूः' और 'प्राणः' आदि ये सब नाम परमेश्वर के हैं । इनके अर्थ कह चुके हैं । 'स्वाहा' शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं । जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिये ॥

(प्रश्न) होम से क्या उपकार होता है ?

(उत्तर) सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है ।

( प्रश्न ) चन्दनादि घिस के किसी के लगावे या घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो । अग्नि में डाल के व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं ?

(उत्तर) जो तुम पदार्थविद्या जानते तो कभी ऐसी बात न

कहते क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो, जहां होम होता है वहां से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने ही से समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म हो के फैल के वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।

( प्रश्न ) जब ऐसा ही है तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा ?

( उत्तर ) उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु का प्रवेश करा सके क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न भिन्न और हलका करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु का प्रवेश कर देता है।

( प्रश्न ) तो मन्त्र पढ़ के होम करने का क्या प्रयोजन है ?

( उत्तर ) मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जायँ और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें, वेद-पुस्तकों का पठन पाठन और रक्षा भी होवे।

( प्रश्न ) क्या इस होम करने के विना पाप होता है ?

( उत्तर) हां ! क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न हो के वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता है उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ

उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये। और खिलाने पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख-विशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके, इस से अच्छे पदार्थ खिलाना पिलाना भी चाहिये, परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है उसलिये होम करना अत्यावश्यक है।

(प्रश्न) प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे और एक २ आहुति का कितना परिमाण है ?

(उत्तर) प्रत्येक मनुष्य को सोलह २ आहुति और छः २ माशे घृतादि एक एक आहुति का परिमाण न्यून से न्यून चाहिये और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसलिये आर्यवरशिरोमणि महाशय ऋषि, महर्षि, राजे, महाराजे, लोग बहुत सा होम करते और कराते थे। जबतक इस होम करने का प्रचार रहा तबतक आर्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था, अब भी प्रचार हो तो वैसा ही होजाय। ये दो यज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ जो पढ़ना पढ़ाना, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना दूसरा देवयज्ञ जो अग्निहोत्र से ले के अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा संग करना परन्तु ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है।

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥
मनु० [ अ० ३ । १ ]

अर्थ—आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त अर्थात् एक २ वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह २ वर्ष मिल के छत्तीस और आठ मिल के चवालीस अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिल के छब्बीस वा नौ वर्ष तथा जबतक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तबतक ब्रह्मचर्य रक्खे ।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं, चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳसवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ २ ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳसवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यंदिनꣳ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताःप्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥ ३ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यंदिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्यान्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते ॥ ५ ॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति माहं प्रणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ६ ॥

यह छान्दोग्योपनिषद् [ प्रपाठक ३ खण्ड १६ ] का वचन है। ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम, उनमें से कनिष्ठ—जो पुरुष अन्नरसमय देह और पुरी अर्थात् देह में शयन करनेवाला जीवात्मा यज्ञ अर्थात् अतीव शुभगुणों से सङ्गत और सत्कर्त्तव्य है इसको आवश्यक है कि २४ वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे और विवाह करके भी लम्पटता न करे तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभगुणों के वास करानेवाले होते हैं। इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास

में सन्तप्त करे और वह आचार्य वैसा ही उपदेश किया करे और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक २ ब्रह्मचारी रहूंगा तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य बलवान् होके शुभगुणों को वसानेवाले मेरे प्राण होंगे। हे मनुष्यो! तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूँ २४ वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूँगा तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित रहूँगा और आयु भी मेरी ७० वा ८० वर्ष तक रहेगी। मध्यम ब्रह्मचर्य यह है—जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है उसके प्राण, इन्द्रियां, अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त होके सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे होते हैं। जो मैं इसी प्रथम वय में जैसा आप कहते हैं कुछ तपश्चर्या करूँ तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओ जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञस्वरूप होता हूं और उसी आचार्यकुल से आता और रोगरहित होता हूँ जैसा कि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है वैसा तुम किया करो। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष पर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है, जैसे ४८ अक्षर की जगती वैसे जो ४८ वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है, उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं। जो आचार्य और माता पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिये तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें और वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे

उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें वैसे तुम भी बढ़ाओ। क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। आषोडशाद्वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता। ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्॥

यह सुश्रुत के सूत्रस्थान ३५ अध्याय का वचन है। इस शरीर की चार अवस्था हैं एक (वृद्धि) जो १६ वें वर्ष से लेके २५ वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। दूसरी (यौवन) जो २५ वें वर्ष के अन्त और २६ वें वर्ष के आदि में युवावस्था का आरम्भ होता है। तीसरी (सम्पूर्णता) जो पच्चीसवें वर्ष से लेके चालीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है। चौथी (किञ्चित्परिहाणि) जब सब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णता को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर जो धातु बढ़ता है वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न प्रस्वेदादि द्वारा बाहर निकल जाता है, वही ४० वां वर्ष उत्तम समय विवाह का है अर्थात् उत्तमोत्तम तो अड़तालीसवें वर्ष में विवाह करना।

( प्रश्न ) क्या यह ब्रह्मचर्य का नियम स्त्री वा पुरुष दोनों का तुल्य ही है ?

( उत्तर ) नहीं, जो २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो १६( सोलह ) वर्ष पर्यन्त कन्या, जो पुरुष ३० वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे तो स्त्री १७ वर्ष, जो पुरुष ३६ वर्ष तक रहे तो स्त्री १८ वर्ष, जो पुरुष ४० वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २० वर्ष, जो पुरुष ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २२ वर्ष, जो पुरुष ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन रक्खे अर्थात् ४८ वें वर्ष से आगे पुरुष और २४ वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिये, परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुष और स्त्रियों का है और जो विवाह करना ही न चाहे वे मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों तो भले ही रहें परन्तु यह काम पूर्ण विद्यावाले, जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थाम के इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वा-

ध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

यह तैत्तिरीयोपनिषद् [ प्रपा० ७ । अनु० ६ ] का वचन है। पढ़ने पढ़ाने वालों के नियम हैं। ( ऋतं० ) यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें। ( सत्यं० ) सत्याचार से सत्य विद्याओं को पढ़ें वा पढ़ावें। ( तपः० ) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें। ( दमः० ) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के पढ़ें और पढ़ाते जायें। ( शमः० ) मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटा के पढ़ते पढ़ाते जायें। ( अग्नयः० ) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जान के पढ़ते पढ़ाते जायें और ( अग्निहोत्रं० ) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें करावें। ( अतिथय ० ) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें। ( मानुषं० ) मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए पढ़ते पढ़ाते रहें। ( प्रजा० ) सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें। ( प्रजन० ) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें। ( प्रजातिः० ) अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

मनु० [ अ० ४ । २०४ ]

यम पांच प्रकार के होते हैं ॥

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥
योग० [ साधनपादे सू० ३० ]

अर्थात् ( अहिंसा ) वैरत्याग, ( सत्य ) सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य ही करना, ( अस्तेय ) अर्थात् मन, वचन, कर्म से चोरी त्याग, ( ब्रह्मचर्य ) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम, ( अपरिग्रह ) अत्यन्त लोलुपता, स्वत्वाभिमानरहित होना इन पांच यमों का सेवन सदा करें, केवल नियमों का सेवन अर्थात्ः—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥
योग० [ साधनपादे सू० ३२ ]

( शौच ) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, ( सन्तोष ) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना होसके उतना करना, हानि लाभ में हर्ष वा शोक न करना, ( तप ) अर्थात् कष्ट सेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान, ( स्वाध्याय ) पढ़ना पढ़ाना, ( ईश्वरप्रणिधान ) ईश्वर की भक्ति विशेष से आत्मा को अर्पित रखना ये पांच नियम कहाते हैं। यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों का सेवन छोड़ के केवल नियमों का सेवन करता है वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता हैः—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥

मनु० [अ० २ । २]

अर्थ—अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता किसी के लिये भी श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि जो कामना न करे तो वेदों का ज्ञान और वेदविहित कर्मादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें, इसलिये :—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

मनु० [अ० २ । २८]

अर्थ—( स्वाध्याय ) सकल विद्या पढ़ने पढ़ाने, ( व्रत ) ब्रह्मचर्य्य सत्यभाषणादि नियम पालने, (होम) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और सत्य विद्याओं का दान देने, ( त्रैविद्येन ) वेदस्थ कर्मोपासना, ज्ञान विद्या के ग्रहण, ( इज्यया ) पक्षेष्ट्यादि करने, ( सुतैः ) सन्तानोत्पत्ति, ( महायज्ञैः ) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पंचमहायज्ञ और ( यज्ञैः ) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण का शरीर किया जाता है। इतने साधनों के विना ब्राह्मणशरीर नहीं बन सकता:—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥

मनु० [ २ । ८८ ]

अर्थ—जैसे विद्वान् सारथि घोड़ों को नियम में रखता है वैसे मन और आत्मा को खोटे कामों में खैंचनेवाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के निग्रह में प्रयत्न सब प्रकार से करे क्योंकि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छन्ति ॥

मनु० [ २ । ९३ ]

अर्थ-जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके निश्चित, बड़े २ दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने वश में करता है तभी सिद्धि को प्राप्त होता हैः—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥

मनु० [ २ । ९७ ]

जो दुष्टाचारी, अजितेन्द्रिय पुरुष है उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होतेः—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यिके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १ ॥
नैत्यिके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ २ ॥

मनु० [२ । १०५, १०६ ]

वेद के पढ़ने पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने और होम मन्त्रों में अनध्यायविषयक अनुरोध (आग्रह) नहीं है क्योंकि ॥ १ ॥ नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता, जैसे श्वास प्रश्वास सदा लिये जाते हैं बन्द नहीं किये जा सकते वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चहिये, न किसी दिन छोड़ना क्योंकि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है । जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है ।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

मनु० [ २ । १२१ ]

जो सदा नम्र, सुशील, विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं और जो ऐसा नहीं करते उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते ।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥२॥
मनु० [ २ । १५६, १६० ]

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैर बुद्धि छोड़ के सब मनुष्यों को कल्याण के मार्ग का उपदेश करें और उपदेष्टा सदा मधुर, सुशीलता युक्त वाणी बोलें । जो धर्म की उन्नति चाहे वह सदा सत्य में चले और सत्य ही का उपदेश करे ॥ १ ॥ जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं वही सब वेदान्त अर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥
मनु० [ २ । १६२ ]

वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन् संचिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥
मनु० [ २ । १६४ ]

इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्म-चारिणी कन्या धीरे २ वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जायें।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

मनु० [ २ । १६८ ]

जो वेद को न पढ़ के अन्यत्र श्रम किया करता है वह अपने पुत्र, पौत्र सहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त होजाता है।

वर्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥ १॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम्॥ २॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ ३॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥ ४॥

मनु० [ २ । १७७–१८० ]

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का सङ्ग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा॥ १॥ अङ्गों का मर्दन, विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में

अञ्जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, नाच, गान और बाजा बजाना ॥ २ ॥ द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवे ॥ ३ ॥ सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्य्यस्खलित कभी न करे, जो कामना से वीर्य्यस्खलित करदे तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्यव्रत का नाश कर दिया ॥ ४ ॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्य्य-देवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचि-कित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता

अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन् । तथा तत्र वर्त्तेथाः । एष आदेश एष उपदेश एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ तैत्तिरीय० [ प्रपा० ७ । अनु० ११ । क० १, २, ३, ४ ]

आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल। धर्माचरण कर। प्रमाद रहित होके पढ़ पढ़ा । पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण और आचार्य्य के लिये प्रिय धन देकर, विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर। प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़। प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर । प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़। प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड़। प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को मत छोड़ । देव= विद्वान् और माता पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे उसी प्रकार माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं उन सत्यभाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्या-भाषणादि कभी मत कर । जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण हों उनको कभी मत कर। जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर, श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिये। जब कभी

तुझको कर्म वा शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो तो जो वे विचारशील पक्षपात रहित योगी, अयोगी आर्द्रचित्त धर्म की कामना करनेवाले धर्मात्मा जन हों जैसे वे धर्ममार्ग में वर्त्तें वैसे तू भी उनमें वर्त्ता कर। यही आदेश, आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है। इसी प्रकार वर्त्तना और अपना चालचलन सुधारना चाहिये।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥

मनु० [२।४]

मनुष्यों को निश्चय करना चाहिये कि निष्काम पुरुषों में नेत्र का संकोच विकास का होना भी सर्वथा असम्भव है इससे यह सिद्ध होता है कि जो २ कुछ भी करता है वह २ चेष्टा कामना के विना नहीं है।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥१॥
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥२॥

मनु० [१।१०८, १०९]

कहने, सुनने, सुनाने, पढ़ने, पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण

करना, इसलिये धर्माचार में सदा युक्त रहे ॥ १ ॥ क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है वह वेदप्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता और जो विद्या पढ़ के धर्माचरण करता है वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

मनु० [ २ । ११ ]

जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का अपमान करता है उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पंक्ति और देश से बाह्य कर देना चाहिये, क्योंकिः—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

मनु० [ २ । १२ ]

वेद, स्मृति, वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेदद्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्यभाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माऽधर्म का निश्चय होता है जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है उसी का नाम धर्म और इससे विपरीत जो पक्षपात-सहित, अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म हैं उसी को अधर्म कहते हैं ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥

मनु० [ २ । १३ ]

जो पुरुष ( अर्थ ) सुवर्णादि रत्न और ( काम ) स्त्री सेवनादि में नहीं फँसते हैं उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें क्योंकि धर्माऽधर्म का निश्चय विना वेद के ठीक २ नहीं होता।

इस प्रकार आचार्य्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेषकर राजा, इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावें। क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखण्ड ही में फँस जाते हैं और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड, झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं तो वे जैसा अपने मन में आता है वैसा ही करते कराते हैं। इसलिये ब्राह्मण भी अपना कल्याण

चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करने हारे हैं। वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते इसलिये वे विद्याव्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते और जब सब वर्णों में विद्या सुशिक्षा होती है तब कोई पाखण्डरूप अधर्मयुक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलानेवाले ब्राह्मण और संन्यासी तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलानेवाले क्षत्रियादि होते हैं। इसलिये सब वर्णों के स्त्री पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिये।

जो विद्या पढ़ने पढ़ाने के विघ्न हैं उनको छोड़ देवें। जैसा कुसङ्ग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग, दुष्टव्यसन जैसा मद्यादि सेवन और वेश्यागमनादि, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह होजाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य्य न होना, राजा, माता, पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना, अतिभोजन, अतिजागरण करना, पढ़ने पढ़ाने, परीक्षा लेने वा देने में आलस्य वा कपट करना, सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना, ब्रह्मचर्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना, ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्त्ति के दर्शन पूजन में व्यर्थ काल खोना, माता, पिता, अतिथि और आचार्य्य, विद्वान् इनको सत्य मूर्त्ति मानकर, सेवा सत्संग न करना, वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, तिलक,

कण्ठी, मालाधारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना, काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नामस्मरण से पाप दूर होने का विश्वास, पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना, विद्या, धर्म, योग, परमेश्वर की उपासना के विना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मानना, लोभ से धनादि में प्रवृत्त होकर विद्या में प्रीति न रखना, इधर उधर व्यर्थ घूमते रहना इत्यादि, मिथ्या व्यवहारों में फँस के ब्रह्मचर्य्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।

आजकल के संप्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरों को विद्या सत्संग से हटा और अपने जाल में फँसा के उनका तन, मन, धन नष्ट कर देते हैं और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जायेंगे तो हमारे पाखण्डजाल से छूट और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे। इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिये तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।

( प्रश्न ) क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें ? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे ? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है जैसा यह निषेध है:—

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः ॥

स्त्री और शूद्र न पढ़ें यह श्रुति है।

( उत्तर ) सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोलकल्पना से हुई है। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और सब मनुष्यों के वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है :—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥
[ यजु० अ० २६।२ ]

परमेश्वर कहता है कि ( यथा ) जैसे मैं ( जनेभ्यः ) सब मनुष्यों के लिये ( इमाम् ) इस ( कल्याणीम् ) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देने हारी ( वाचम् ) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का ( आ वदानि ) उपदेश करता हूँ वैसे तुम भी किया करो।

यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि 'जन' शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं।

( उत्तर )-( ब्रह्मराजन्याभ्यां इत्यादि ) देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, ( अर्य्याय ) वैश्य, (शूद्राय) शूद्र और ( स्वाय ) अपने भृत्य वा स्त्रियादि ( अरणाय ) और अतिशूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़ पढ़ा और सुन सुनाकर विज्ञान को बढ़ा के

अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूट कर आनन्द को प्राप्त हों। कहिये अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा वह नास्तिक कहावेगा। क्योंकि 'नास्तिको वेदनिन्दकः' वेदों का निन्दक और न मानने वाला नास्तिक कहाता है। क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों को पढ़ने, सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता। जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सब के लिये प्रकाशित किये हैं वैसे ही वेद भी सबके लिये प्रकाशित किये हैं। और जहां कहीं निषेध है उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना पढ़ाना व्यर्थ है और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाणः—

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।

अथर्व० [कां० ११। प्र० २४। अ० ३। म० १८]

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के

साथ विवाह करते हैं वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़, पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे इसलिये स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।

(प्रश्न) क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें ?

(उत्तर) अवश्य, देखो श्रौतसूत्रादि में:—

इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् ॥

अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वर सहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके। भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषण रूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ के पूर्ण विदुषी हुई थीं, यह शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्यप्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहे, फिर सुख कहां ? इसलिये जो स्त्री न पढ़े तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सकें तथा राजकार्य्य न्यायाधीशत्वादि, गृहाश्रम का कार्य्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना इत्यादि काम विना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

देखो, आर्य्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात्

युद्ध विद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं क्योंकि जो न जानती होतीं तो केकयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं ? और युद्ध कर सकतीं। इसलिये ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये। जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये। क्योंकि इनके सीखे विना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्त्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्य्यों को जैसा चाहिये वैसा करना कराना वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनदित रहें। शिल्पविद्या के जाने विना घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना बनवाना, गणितविद्या के विना सब का हिसाब समझना समझाना, वेदादि शास्त्रविद्या के विना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी नहीं बच सके। इसलिये वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, पति, सासु, श्वशुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्त्तें। यही कोश अक्षय है इसको जितना व्यय करे उतना ही बढ़ता

जाय। अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निजभाग लेते हैं और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता। इस कोश की रक्षा और वृद्धि करने-वाला विशेष राजा और प्रजा भी हैं।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्। मनु०[७।१५२]

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके, विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु आचार्य्य कुल में रहें, जबतक समावर्त्तन का समय न आवे तबतक विवाह न होने पावे।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ मनु०[४।२३३]

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेदविद्या का दान अतिश्रेष्ठ है। इसलिये जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। जिस देश में यथा-योग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान होता है। यह ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी गई है, इसके आगे चौथे समुल्लास में समावर्त्तन और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जायगी।

---

# अथ चतुर्थसमुल्लासारम्भः

## अथ समावर्त्तनविवाहगृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ मनु० [३।२]

जब यथावत् ब्रह्मचर्य्य [ में ] आचार्यानुकूल वर्त्तकर, धर्म से चारों वेद, तीन वा दो अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़ के जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे।

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ मनु० [३ । ३]

जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य और शिष्य का धर्म है उससे युक्त पिता, जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण, माला का धारण करने वाला अपने पलङ्ग में बैठे हुए आचार्य्य को प्रथम गोदान से सत्कार करे, वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कार करे।

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥

[ मनु० ३ । ४ ]

गुरु की आज्ञा ले, स्नान कर गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक आ के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे ।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥

मनु० [ ३ । ५ ]

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो उस कन्या से विवाह करना उचित है । इसका यह प्रयोजन है किः—

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥

[ गोपथ पू० २ । २१ ॥ ]

यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है वैसी प्रत्यक्ष में नहीं । जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो तो उसका मन उसी में लगा रहता है, जैसे किसी परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिये ।

निकट और दूर विवाह करने में गुण ये हैं:—

( १ ) एक—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं, परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते, एक दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव, बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और जो नङ्गे भी एक दूसरे को देखते हैं उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

( २ ) दूसरा—जैसे पानी में पानी मिलाने से विलक्षण गुण नहीं होता वैसे एक गोत्र पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदल बदल न होने से उन्नति नहीं होती।

( ३ ) तीसरा—जैसे दूध मिश्री वा शुंठ्यादि ओषधियों के योग होने से उत्तमता होती है वैसे ही भिन्न गोत्र मातृ पितृ-कुल से पृथक् वर्त्तमान स्त्री पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।

( ४ ) चौथा—जैसे एक देश में रोगी हो वह दूसरे देश में वायु और खान पान के बदलने से रोगरहित होता है वैसे ही दूर देशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है।

( ५ ) पांचवें—निकट सम्बन्ध करने में एक दूसरे के निकट होने में सुख दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूरदेशस्थों में नहीं और दूरस्थों के विवाह में दूर २ प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है, निकटस्थ विवाह में नहीं।

( ६ ) छठे—दूर २ देश के वर्त्तमान और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने में सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होने में नहीं। इसलिये:—

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता भवतीति ॥ निरु० [३ । ४]

कन्या का नाम 'दुहिता' इस कारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है निकट रहने में नहीं।

(७) सातवें—कन्या के पितृकुल में दारिद्रय होने का भी संभव है क्योंकि जब २ कन्या पितृकुल में आवेगी तब तब इस को कुछ न कुछ देना ही होगा।

(८) अठवां—कोई निकट होने से एक दूसरे को अपने २ पितृकुल के सहाय का घमण्ड और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जायेगी। एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी, क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है इत्यादि कारणों से पिता के एक गोत्र, माता की छः पीढ़ी और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥मनु०[३।६]

चाहें कितने ही धन, धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाहसम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग करदे:—

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥मनु०[३।७]

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े २ लोम अथवा बवासीर, क्षयी, दमा,

खांसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त हों, उन कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिये क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करनेवाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं इसलिये उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिये ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटान्न पिङ्गलाम् ॥मनु०[३।८]

न पीले वर्णवाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी, चौड़ी, अधिक बलवाली, न रोगयुक्ता, न लोमरहित, न बहुत लोमवाली, न बकवाद करनेहारी और न भूरे नेत्रवाली ।

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥मनु०[३।१०]

जिसके सरल सूधे अङ्ग हों, विरुद्ध न हों, जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो, हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो, सूक्ष्म लोम, केश और दांतयुक्त और जिसके सब अङ्ग कोमल हों, वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये ।

(प्रश्न) विवाह का समय और प्रकार कौनसा अच्छा है ।

(उत्तर) सोलहवें वर्ष से ले के चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से ले के अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है । इससे जो सोलह और पच्चीस में

विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह बीस की स्त्री तीस, पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है। जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है।

(प्रश्न) अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २ ॥

ये श्लोक पाराशरी और शीघ्रबोध में लिखे हैं। अर्थ यह है कि कन्या की आठवें वर्ष विवाह में गौरी, नवमें वर्ष रोहिणी, दसवें वर्ष कन्या और उसके आगे रजस्वला संज्ञा होती है ॥ १ ॥ जो दशवें वर्ष तक विवाह न करके रजस्वला कन्या को माता पिता और बड़ा भाई ये तीनों देखके नरक में गिरते हैं। (उत्तर)

ब्रह्मोवाच ।

एकक्षणा भवेद् गौरी द्विक्षणेयन्तु रोहिणी ।
त्रिक्षणा सा भवेत्कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥

माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वका ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २ ॥

यह सद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का वचन है ।

अर्थ—जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे उतने समय को क्षण कहते हैं, जब कन्या जन्मे तब एक क्षण में गौरी, दूसरे में रोहिणी, तीसरे में कन्या और चौथे में रजस्वला हो जाती है ॥ १ ॥ उस रजस्वला को देख के उसके माता, पिता, भाई, मामा और बहिन सब नरक को जाते हैं ॥२॥

( प्रश्न ) ये श्लोक प्रमाण नहीं ।

( उत्तर ) क्यों प्रमाण नहीं ? क्या जो ब्रह्माजी के श्लोक प्रमाण नहीं तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते ।

( प्रश्न ) वाह २, पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते ।

( उत्तर ) वाह जी वाह ! क्या तुम ब्रह्माजी का प्रमाण नहीं करते ? पराशर काशीनाथ से ब्रह्माजी बड़े नहीं हैं ? जो तुम ब्रह्माजी के श्लोकों को नहीं मानते तो हम भी पराशर, काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते ।

( प्रश्न ) तुम्हारे श्लोक असंभव होने से प्रमाण नहीं क्योंकि सहस्र क्षण जन्म समय ही में बीत जाते हैं तो विवाह कैसे हो सकता है और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता ।

(उत्तर) जो हमारे श्लोक असंभव हैं तो तुम्हारे भी असंभव हैं क्योंकि आठ, नौ और दसवें वर्ष में भी विवाह करना निष्फल है, क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्ष पर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर बलिष्ठ स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलयुक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं। ॐ जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असंभव है वैसे ही गौरी, रोहिणी नाम देना भी अयुक्त है। यदि गोरी कन्या न हो किन्तु काली हो तो उसका नाम

---

ॐउचित समय से न्यून आयुवाले स्त्री पुरुष को गर्भाधान में मुनिवर धन्वन्तरिजी सुश्रुत में निषेध करते हैं:—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ १ ॥

जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ २ ॥

सुश्रुत शारीरस्थाने अ० १० । श्लोक ४७, ४८ ॥

अर्थ—सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता ॥ १ ॥ अथवा उत्पन्न हो तो फिर चिरकाल तक न जीवे वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो, इस कारण से अतिबाल्यावस्थावाली स्त्री में गर्भ स्थापन न करे ॥ २ ॥

गौरी रखना व्यर्थ है। और गौरी महादेव की स्त्री, रोहिणी वासुदेव की स्त्री थी उसको तुम पौराणिक लोग मातृसमान मानते हो। जब कन्यामात्र में गौरी आदि की भावना करते हो तो फिर उनसे विवाह करना कैसे संभव और धर्मयुक्त हो सकता है! इसलिये तुम्हारे और हमारे दो २ श्लोक मिथ्या ही हैं, क्योंकि जैसा हमने 'ब्रह्मोवाच' करके श्लोक बना लिये हैं वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से बना लिये हैं। इसलिये इन सबका प्रमाण छोड़ के वेदों के प्रमाण से सब काम किया करो। देखो मनु में—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥
मनु० [ ९।९० ]

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे। जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है इससे पूर्व नहीं।

---

ऐसे २ शास्त्रोक्त नियम और सृष्टिक्रम को देखने और बुद्धि से विचारने से यही सिद्ध होता है कि १६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष कभी गर्भाधान करने के योग्य नहीं होता, इन नियमों से विपरीत जो करते हैं वे दुःखभागी होते हैं॥ स० दा०॥

कामममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥

मनु० [ ९ । ८९ ]

चाहे लड़का लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण, कर्म, स्वभाववालों का विवाह कभी न होना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि न पूर्वोक्त समय से प्रथम वा असदृशों का विवाह होना योग्य है।

( प्रश्न ) विवाह करना माता पिता के आधीन होना चाहिये वा लड़का लड़की के आधीन रहे ?

( उत्तर ) लड़का लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का लड़की की प्रसन्नता के विना न होना चाहिये क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है, विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है माता पिता का नहीं, क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता। और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ मनु०[३।६०]

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्ति निवास

करती है और जहां विरोध, कलह होता है वहां दुःख, दरिद्रता और निन्दा निवास करती है। इसलिये जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री पुरुष विवाह करना चाहें तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये। जब तक इनका मेल नहीं होता तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता।

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥१॥
ऋ० ॥ मं० ३। सू० ८। मं० ४॥

आधेनवो धुनयन्तामशिश्वीः शबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ २॥
ऋ० ॥ मं० ३। सू० ५५। मं० १६॥

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषावस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ॥३॥
ऋ० ॥ मं० १। सू० १७९। मं० १॥

जो पुरुष ( परिवीतः ) सब ओर से यज्ञोपवीत, ब्रह्मचर्य सेवन से उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त, ( सुवासाः ) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ, ब्रह्मचर्य्ययुक्त, ( युवा ) पूर्ण ज्वान

होके विद्या ग्रहण कर गृहाश्रम में ( आगात् ) आता है (स, उ) वही दूसरे विद्याजन्म में ( जायमानः ) प्रसिद्ध होकर ( श्रेयान् ) अतिशय शोभायुक्त मङ्गलकारी ( भवति ) होता है । ( स्वाध्यः ) अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त ( मनसा ) विज्ञान से ( देवयन्तः ) विद्या वृद्धि की कामनायुक्त, ( धीरासः ) धैर्ययुक्त, ( कवयः ) विद्वान् लोग ( तम् ) उसी पुरुष को ( उन्नयन्ति ) उन्नति शील करके प्रतिष्ठित करते हैं और जो ब्रह्मचर्यधारण, विद्या उत्तम शिक्षा का ग्रहण किये विना अथवा बाल्यावस्था में विवाह करते हैं वे स्त्री पुरुष नष्ट भ्रष्ट होकर विद्वानों में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते ॥ १ ॥

जो ( अप्रदुग्धाः ) किसी ने दुही नहीं उन ( धेनवः ) गौओं के समान ( अशिश्वीः ) बाल्यावस्था से रहित (शबर्दुघाः) सब प्रकार के उत्तम व्यवहारों को पूर्ण करने हारी, ( शशयाः ) कुमारावस्था को उल्लंघन करने हारी, ( नव्यानव्याः ) नवीन २ शिक्षा और अवस्था से पूर्ण ( भवन्तीः ) वर्त्तमान ( युवतयः ) पूर्ण युवावस्थास्थ स्त्रियां ( देवानाम् ) ब्रह्मचर्य, सुनियमों से पूर्ण विद्वानों के ( एकम् ) अद्वितीय ( महत् ) बड़े (असुरत्वम्) प्रज्ञा शास्त्र शिक्षायुक्त प्रज्ञा में रमण के भावार्थ को प्राप्त होती हुई तरुण पतियों को प्राप्त होके, ( आ धुनयन्ताम् ) गर्भ धारण करें । कभी भूल के भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें क्योंकि यही कर्म इस लोक और परलोक के सुख का साधन है । बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश उससे अधिक स्त्री का नाश होता है ॥ २ ॥

जैसे ( नु ) शीघ्र ( शश्रमाणाः ) अत्यन्त श्रम करनेहारे, ( वृषणः ) वीर्य सींचने में समर्थ, पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष ( पत्नीः ) युवावस्थास्थ हृदयों को प्रिय स्त्रियों को ( जगम्युः ) प्राप्त होकर पूर्ण शतवर्ष वा उससे अधिक आयु को आनन्द से भोगते और पुत्र पौत्रादि से संयुक्त रहते हैं वैसे स्त्री पुरुष सदा वर्तें, जैसे ( पूर्वीः ) पूर्व वर्त्तमान ( शरद ) शरद् ऋतुओं और ( जरयन्तीः ) वृद्धावस्था को प्राप्त कराने वाली ( उषसः ) प्रातः-काल की वेलाओं को ( दोषा ) रात्री और ( वस्तोः ) दिन ( तनूनाम् ) शरीरों की ( श्रियम् ) शोभा को ( जरिमा ) अति-शय वृद्धपन, बल और शोभा को दूर कर देता है वैसे (अहम् ) मैं स्त्री वा पुरुष ( उ ) अच्छे प्रकार ( अपि ) निश्चय करके ब्रह्मचर्य से विद्या, शिक्षा, शरीर और आत्मा के बल और युवा-वस्था को प्राप्त हो ही के विवाह करूँ, इससे विरुद्ध करना वेदविरुद्ध होने से सुखदायक विवाह कभी नहीं होता ॥ ३ ॥

जबतक इसी प्रकार सब ऋषि मुनि, राजा महाराजा आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे तबतक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्म-चर्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता पिता के आधीन विवाह होने लगा तब से क्रमशः आर्य्या-वर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये।

( प्रश्न ) क्या जिसके माता पिता ब्राह्मण हों वह ब्राह्मणी ब्राह्मण होता है और जिसके माता पिता अन्य वर्णस्थ हों उन का सन्तान कभी ब्राह्मण हो सकता है ?

( उत्तर ) हां, बहुत से हो गये, होते हैं और होंगे भी, जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञात कुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण और मातङ्ग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे, अब भी जो उत्तम विद्या स्वभाव वाला है वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा।

( प्रश्न ) भला जो रज वीर्य से शरीर हुआ है वह बदल कर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है ?

( उत्तर ) रज वीर्य के योग से ब्राह्मण-शरीर नहीं होता, किन्तुः—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ मनु० [२।२८]

इसका अर्थ पूर्व कर आये हैं अब यहां भी संक्षेप से कहते हैं ( स्वाध्यायेन ) पढ़ने पढ़ाने, ( जपैः ) विचार करने कराने, नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारण सहित पढ़ने पढ़ाने, ( इज्यया ) पौर्णमासी, इष्टि आदि के करने, ( सुतैः ) पूर्वोक्त विधिपूर्वक धर्म से सन्तानोत्पत्ति, ( महायज्ञैश्च ) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ, ( यज्ञैश्च ) अग्निष्टोमादियज्ञ,

विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्यकर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़ के दुष्टाचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से ( इयम् ) यह ( तनुः ) शरीर ( ब्राह्मी ) ब्राह्मण का ( क्रियते ) किया जाता है।

"क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते ?"

"मानते हैं।"

"फिर क्यों रज वीर्य के योग से वर्णव्यवस्था मानते हो ?"

"मैं अकेला नहीं मानता किन्तु बहुत से लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं "

( प्रश्न ) क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे ?

( उत्तर ) नहीं, परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मान के खण्डन भी करते हैं।

( प्रश्न ) हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है इसमें क्या प्रमाण ?

( उत्तर ) यही प्रमाण है कि जो तुम पांच सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आजपर्यन्त की परम्परा मानते हैं, देखो जिसका पिता श्रेष्ठ वह पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ वह पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने में आते हैं। इसलिये तुम लोग भ्रम में पड़े हो, देखो मनु महाराज ने क्या कहा है:—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ मनु०[४।१७८]

जिस मार्ग से इसके पिता, पितामह चले हों उसी मार्ग में सन्तान भी चलें, परन्तु ( सताम् ) जो सत्पुरुष पिता, पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता, पितामह दुष्ट हों तो उनके मार्ग में कभी न चलें। क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता।

"इसको तुम मानते हो वा नहीं ?"

"हां २ मानते हैं।"

"और देखो जो परमेश्वर की प्रकाशित वेदोक्त बात है वही सनातन और उसके विरुद्ध है वह सनातन कभी नहीं हो सकती। ऐसा ही सब लोगों को मानना चाहिये वा नहीं ?"

"अवश्य चाहिये।"

जो ऐसा न माने उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे ! क्या जिसका पिता अन्धा हो उसका पुत्र भी अपनी आंखों को फोड़ लेवे ! जिसका पिता कुकर्मी हो क्या उसका पुत्र भी कुकर्म ही करे ! नहीं २ किन्तु जो जो पुरुषों कें उत्तम कर्म हों उनका सेवन और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सब को अत्यावश्यक है। जो कोई रज, वीर्य्य के योग से वर्णाश्रम-व्यवस्था माने और गुण कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान हो गया हो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते ? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये इसलिये वह ब्राह्मण नहीं

है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे तो उसको नीचवर्ण गिनना अवश्य चाहिये।

(प्रश्न) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳशूद्रो अजायत॥

यह यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का ११ वां मन्त्र है। इसका यह अर्थ है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है इसलिये जैसे मुख न बाहू आदि और बाहू आदि न मुख होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते हैं।

(उत्तर) इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया वह ठीक नहीं क्योंकि यहां पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है। जब वह निराकार है तो उसके मुखादि अङ्ग नहीं हो सकते, जो मुखादि अङ्गवाला हो वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं, वह सर्वशक्तिमान् जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्य पापों की जानके व्यवस्था करने हारा, सर्वज्ञ, अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता इसलिये इसका यह अर्थ है कि जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो वह (ब्राह्मणः) ब्राह्मण। (बाहू) 'बाहुर्वै बलं बाहुर्वै

वीर्य्यम् ।' शतपथब्राह्मण [ ५ । ४ । १ । १ ] बल वीर्य्य का नाम बाहु है, वह जिसमें अधिक हो सो ( राजन्यः ) क्षत्रिय । ( ऊरू ) कटि के अधोभाग और जानु के उपरिस्थ भाग का उरू नाम है । जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे आवे, प्रवेश करे वह ( वैश्यः ) वैश्य और ( पद्भ्याम् ) जो पग के अर्थात् नीचे अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुण वाला हो वह शूद्र है । अन्यत्र शतपथ ब्राह्मणादि में भी इस मंत्र का ऐसा ही अर्थ किया है जैसेः—

यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त इत्यादि ।

जिससे ये मुख्य हैं इससे मुख से उत्पन्न हुए ऐसा कथन संगत होता है अर्थात् जैसा मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम ब्राह्मण कहाता है । जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अङ्ग ही नहीं हैं तो मुख आदि से उत्पन्न होना असम्भव है । जैसा कि वन्ध्या स्त्री के पुत्र का विवाह होना ! और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती । जैसे मुख का आकार गोलमाल है वैसे ही उनके शरीर का भी गोलमाल मुखाकृति के समान होना चाहिये । क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश, वैश्यों के ऊरू के तुल्य और शूद्रों के शरीर पग के समान आकार वाले होने चाहियें । ऐसा नहीं होता और जो कोई तुम से प्रश्न करेगा कि जो २ मुखादि से उत्पन्न हुए थे उनकी

ब्राह्मणादि संज्ञा हो परन्तु तुम्हारी नहीं क्योंकि जैसे और सब लोग गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं वैसे तुम भी होते हो । तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि [ संज्ञा का ] अभिमान करते हो इसलिये तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है और जो हमने अर्थ किया है वह सच्चा है ।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है । जैसाः—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ मनु० [१०।६५]

जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण कर्म स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय, वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाय, वैसे क्षत्रिय वा वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण ब्राह्मणी वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है । अर्थात् चारों वर्णों में जिस २ वर्ण के सदृश जो २ पुरुष वा स्त्री हो वह २ उसी वर्ण में गिनी जावे ।

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते
जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥ अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो
जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥

ये आपस्तम्ब के सूत्र हैं ।

अर्थः—धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम २ वर्णों

को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस २ के योग्य होवे ॥ १ ॥

वैसे अधर्माचरण से पूर्व २ अर्थात् उत्तम २ वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे वाले वर्णों को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ॥ २ ॥ जैसे पुरुष जिस जिस वर्ण के योग्य होता है वैसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये। इससे क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने २ गुण, कर्म, स्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं अर्थात् और ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय, वैश्य शूद्र के सदृश न रहे और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं अर्थात् वर्णसंकरता प्राप्त न होगी । इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥१॥मनु०[१।८८]
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ २ ॥
भ० गी० [ अध्याय १८ । श्लोक ४२ ]

ब्राह्मण के पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना, लेना ये छः कर्म हैं, परन्तु 'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ।' मनु०[१०।१०९] अर्थात् (प्रतिग्रह) लेना नीच कर्म है ॥ १ ॥ (शमः) मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी और उसको अधर्म्म में कभी प्रवृत्त

न होने देना, (दमः) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रियों को अन्यायाचरण से रोक कर धर्म्म में चलाना, (तपः) सदा ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय होके धर्मानुष्ठान करना, (शौच)—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥
[ मनु० ५ । १०९ ]

जल से बाहर के अङ्ग, सत्याचार से मन, विद्या और धर्मानुष्ठान से जीवात्मा और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है। भीतर रागद्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना अर्थात् सत्याऽसत्य के विवेकपूर्वक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से निश्चय पवित्र होता है। (क्षान्ति) अर्थात् निन्दा, स्तुति, सुख, दुःख, शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा, हानि, लाभ, मानापमान आदि, हर्ष, शोक छोड़ के धर्म्म में दृढ़ निश्चय रहना, (आर्जव) कोमलता, निरभिमान, सरलता, सरल स्वभाव रखना, कुटिलतादि दोष छोड़ देना, (ज्ञान) सब वेदादि शास्त्रों को साङ्गोपाङ्ग पढ़के पढ़ाने का सामर्थ्य विवेक, सत्य का निर्णय जो वस्तु जैसा हो अर्थात् जड़ को जड़ चेतन को चेतन जानना और मानना, (विज्ञान) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्य्यन्त पदार्थों को विशेषता से जानकर उनसे यथायोग्य उपयोग लेना, (आस्तिक्य) कभी वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व परजन्म, धर्म, विद्या, सत्संग, माता, पिता, आचार्य्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना और निन्दा कभी न करना ॥ २ ॥ ये

पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहियें ॥

क्षत्रिय—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ मनु० [१ । ८९]
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ २ ॥

भ० गी० [ अध्याय १८ । श्लो ४३ ]

न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़ के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना सब प्रकार से सब का पालन, ( दान ) विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना, ( इज्या ) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना, ( अध्ययन ) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़वाना, ( विषयेषु० ) विषयों में न फंस कर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना, ॥ १ ॥ ( शौर्य्य ) सैकड़ों सहस्रों से भी युद्ध करने में अकेला भय न होना, (तेजः) सदा तेजस्वी अर्थात् दीनतारहित प्रगल्भ दृढ़ रहना ( धृति ) धैर्यवान् होना ( दाक्ष्य ) राजा और प्रजासम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अति चतुर होना, ( युद्धे ० ) युद्ध में भी दृढ़ निःशंक रहके उससे कभी न हटना, न भागना अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे, आप बचे,

जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो तो ऐसा ही करना, ( दान ) दानशीलता रखना, ( ईश्वरभाव ) पक्षपातरहित होके सब के साथ यथा योग्य वर्त्तना विचार के देना प्रतिज्ञा पूरी करना, उसको कभी भङ्ग होने न देना। ये ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं ॥ २ ॥

वैश्यः—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ मनु० [१।९०]

( पशुरक्षा ) गाय आदि पशुओं का पालन वर्द्धन करना, ( दान ) विद्या धर्म की वृद्धि करने कराने के लिये धनादि का व्यय करना, ( इज्या ) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, ( अध्ययन ) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, ( वणिक्पथ ) सब प्रकार के व्यापार करना, ( कुसीद ) एक सैकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक व्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और देना, ( कृषि ) खेती करना, ये वैश्य के गुण कर्म हैं ॥

शूद्रः—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ मनु०[अ० १।९१]

शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़ के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना

और उसी से अपना जीवन करना यही एक शूद्र का गुण, कर्म है ॥

ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे। जिस २ पुरुष में जिस २ वर्ण के गुण कर्म हों उस २ वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र होजायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा। और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढ़ेगा। विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना क्योंकि पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिये है कि वह विद्यारहित मूर्ख होने से विज्ञानसम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है। इस प्रकार वर्णों को अपने अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि का काम है॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥

मनु० [ ३ । ५० ]

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है।

सन्तुष्टो भार्य्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ २ ॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३ ॥

मनु० [ ३ । ६०–६२ ]

जिस कुल में भार्य्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है उसी कुल में सब सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं। जहां कलह होता है वहां दौर्भाग्य और दारिद्र्य स्थिर होता है ॥ १ ॥ जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता ॥ २ ॥ जिस स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक होजाता है ॥ ३ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ १ ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥ २ ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ ३ ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ४ ॥
मनु० [ ३ । ५५–५७, ५६ ]

पिता, भाई, पति और देवर इनको सत्कारपूर्वक भूषणादि से प्रसन्न रक्खें, जिनको बहुत कल्याण की इच्छा हो वे ऐसे करें ॥ १ ॥ जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके 'देव' संज्ञा धरा के आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां सब क्रिया निष्फल होजाती हैं ॥ २ ॥ जिस घर वा कुल में स्त्री लोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं वह कुल शीघ्र नष्ट भ्रष्ट होजाता है और जिस घर वा कुल में स्त्री लोग आनन्द से उत्साह और प्रसन्नता से भरी हुई रहती हैं वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ३ ॥ इसलिये ऐश्वर्य की कामना करने हारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समयों में भूषण, वस्त्र और भोजनादि से स्त्रियों का नित्य प्रति सत्कार करें ॥ ४ ॥ यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि 'पूजा' शब्द का अर्थ सत्कार है, और दिन रात में जब २ प्रथम मिलें वा पृथक् हों तब २ प्रीति पूर्वक 'नमस्ते' एक दूसरे से करें।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ मनु० [५।१५०]

स्त्री को योग्य है कि अति प्रसन्नता से घर के कर्मों में चतुराईयुक्त सब पदार्थों के उत्तम संस्कार तथा घर की शुद्धि रक्खे और व्यय में अत्यन्त उदार [न] रहे अर्थात् [यथायोग्य खर्च करे और] सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे जो औषधिरूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे, जो जो व्यय हो उसका हिसाब यथावत् रखके पति आदि को सुना दिया करे, घर के नौकर चाकरों से यथायोग्य काम लेवे, घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे ।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या सत्यं शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ मनु०[२।२४०]

उत्तम स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, विद्या, सत्य, पवित्रता, श्रेष्ठभाषण और नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करे ।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १ ॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ २ ॥
मनु० [४।१३८, १३९]

सदा प्रिय, सत्य दूसरे का हितकारक बोले, अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले, अनृत अर्थात् झूठ दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले ॥ १ ॥ सदा भद्र अर्थात् सब के हितकारी वचन बोला करे, शुष्कवैर अर्थात् विना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे। जो २ दूसरे का हितकारक हो और बुरा भी माने तथापि कहे विना न रहे ॥ २ ॥

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥
उद्योगपर्व—विदुरनीति० ॥

हे धृतराष्ट्र! इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिये प्रिय बोलने वाले प्रशंसक लोग बहुत हैं परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो और वह कल्याण करने वाला वचन हो उसका कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है। क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जबतक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं कहता तबतक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं हो सकता। कभी किसी की निन्दा न करे जैसेः—

गुणेषु दोषारोपणमसूया अर्थात् दोषेषु गुणारोपणमप्यसूया, गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः। जो

गुणों में दोष, दोषों में गुण लगाना वह निन्दा और गुणों में गुण, दोषों में दोषों का कथन करना स्तुति कहाती है अर्थात् मिथ्या भाषण का नाम निन्दा और सत्यभाषण का नाम स्तुति है।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १ ॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २ ॥

मनु० [ ४ । १९, २० ]

जो शीघ्र बुद्धि धन और हित की वृद्धि करने हारे शास्त्र और वेद हैं उनको नित्य सुनें और सुनावें, ब्रह्मचर्य्याश्रम में पढ़े हों उनको स्त्री पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें ॥ १ ॥ क्योंकि जैसे २ मनुष्य शास्त्रों को यथावत् जानता है वैसे उस विद्या का विज्ञान बढ़ता जाता और उसी में रुचि बढ़ती रहती है । २ ।

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥१॥ मनु०[४।२१]
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्प्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम ॥ २ ॥

मनु० [ ३ । ७० ]

स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥३॥ मनु०[३।८१]

दो यज्ञ ब्रह्मचर्य में लिख आये । वे अर्थात् एक वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, पढ़ाना, संध्योपासन योगाभ्यास, दूसरा देवयज्ञ, विद्वानों का संग, सेवा, पवित्रता दिव्य गुणों का धारण, दातृत्व, विद्या की उन्नति करना है, ये दोनों यज्ञ सायं प्रातः करने होते हैं ।

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ॥१॥
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता ॥२॥
अ० कां० १९ । अनु० ७ । [सू० ५५] । मं० ३,४॥

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत ।
उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् ॥ ३ ॥
ब्राह्मणे [ षड्विंशब्राह्मणे प्र० ४ । खं० ५ ]

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ ४ ॥
मनु० [ २ । १०३ ]

जो सन्ध्या २ काल में होम होता है वह हुत द्रव्य प्रातः-काल तक वायुशुद्धि द्वारा सुखकारी होता है ॥ १ ॥ जो अग्नि में प्रातः २ काल में होम किया जाता है वह २ हुत द्रव्य साय-ङ्काल पर्यन्त वायु की शुद्धि द्वारा बल बुद्धि और आरोग्यकारक

होता है ॥ २ ॥ इसीलिये दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये ॥ ३ ॥ और जो ये दोनों काम सायं और प्रातः काल में न करे उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें ॥ ४ ॥

तीसरा 'पितृयज्ञ' अर्थात् जिसमें देव जो विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने पढ़ाने हारे, पितर जो माता पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परम योगियों की सेवा करनी।

पितृयज्ञ के दो भेद हैं एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण। श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' सत्य का नाम है 'श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा श्रद्धया यत्क्रियते तच्छ्राद्धम्।' जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उसको 'श्रद्धा' और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसका नाम 'श्राद्ध' है। और 'तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्।' जिस जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता पितादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायँ उसका नाम तर्पण है, परन्तु यह जीवितों के लिये हैं, मृतकों के लिये नहीं।

ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम् ॥

इति देवतर्पणम्

विद्वाᳬंसो हि देवाः' यह शतपथ ब्राह्मण [ ३ । ७ । ३ । १० ] का वचन है—जो विद्वान् हैं उन्हीं को 'देव' कहते हैं जो साङ्गोपाङ्ग चार वेदों के जानने वाले हों उनका नाम ब्रह्मा और जो उनसे न्यून पढ़े हों उनका भी नाम देव अर्थात् विद्वान् है। उनके सदृश उनकी विदुषी स्त्री ब्राह्मणी 'देवी' और उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों उनकी सेवा करना है, उसका नाम 'श्राद्ध' और 'तर्पण' है।

## अथर्षितर्पणम्

ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम् । मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम् । मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम् । मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम् ॥

## इति ऋषितर्पणम्

जो ब्रह्मा के प्रपौत्र मरीचिवत् विद्वान् होकर पढ़ावें और जो उनके सदृश विद्यायुक्त उनकी स्त्रियां कन्याओं को विद्यादान देवें उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके समान सेवक हों उनका सेवन और सत्कार करना 'ऋषितर्पण' है।

## अथ पितृतर्पणम्

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् । अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम् । बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् । सोमपाः पितर-

स्तृप्यन्ताम् । हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम् । आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् । [ सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम् । ] यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि । पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि । पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि [ प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि । ] मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्पयामि । पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि । [ प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्पयामि । ] स्वपत्न्यै स्वधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि । सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्पयामि । सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रांस्तर्पयामि ॥

## इति पितृतर्पणम्

ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः' । जो परमात्मा और पदार्थ विद्या में निपुण हों वे 'सोमसद्' । यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः' जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जानने वाले हों वे 'अग्निष्वात्त' । ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते 'बर्हिषदः' जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों वे 'बर्हिषद्' । ये सोममैश्वर्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः' जो ऐश्वर्य्य के रक्षक और महौषधि रस का पान करने से रोग-

रहित और अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक औषधों को देके रोग नाशक हों वे 'सोमपा'। ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः' जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़ के भोजन करने हारे हों वे 'हविर्भुज'। य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति वा पिबन्ति त आज्यपाः' जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक और घृत दुग्धादि खाने और पीनेहारे हों वे 'आज्यपा'। 'शोभनः कालो विद्यते येषान्ते सुकालिनः' जिनका अच्छा धर्म करने का सुखरूप समय हो वे 'सुकालिन्'। 'ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः' जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करने हारे न्यायकारी हों वे 'यम'। 'यः पाति स पिता' जो सन्तानों का अन्न और सत्कार से रक्षक वा जनक हो वह 'पिता'। 'पितुः पिता पितामहः, पितामहस्य पिता प्रपितामहः' जो पिता का पिता हो वह 'पितामह' और जो पितामह का पिता हो वह 'प्रपितामह'। 'या मानयति सामाता' जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे वह 'माता'। 'या पितुर्माता सा पितामही। पितामहस्य माता प्रपितामही'। जो पिता की माता हो वह 'पितामही' और पितामह की माता हो वह 'प्रपितामही'। अपनी स्त्री तथा भगिनि सम्बन्धी और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्र पुरुष वा वृद्ध हों उन सब को

अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस २ कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे उस २ कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी वह श्राद्ध और तर्पण कहाता है।

चौथा वैश्वदेव—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार को छोड़ के घृत मिष्टयुक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग धर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति और भाग करे।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृहेऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥
मनु० [ ३। ८४ ]

जो कुछ पाठशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो उसका दिव्य गुणों के अर्थ उसी पाकाग्नि में निम्नलिखित मन्त्रों से विधिपूर्वक होम नित्य करे—

## होम करने के मन्त्र

ओं अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा। अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। धन्वन्तरये स्वाहा। कुह्वै स्वाहा। अनुमत्यै स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा। सह द्यावा-पृथिवीभ्यां स्वाहा। स्विष्टकृते स्वाहा॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ वार आहुति क्रमानुसार प्रज्व-

लित अग्नि में छोड़े, पश्चात् थाली अथवा भूमि में पत्ता रख के पूर्व दिशादि क्रमानुसार यथाक्रम इन मन्त्रों से भाग रक्खे:—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः । सानुगाय यमाय नमः । सानुगाय वरुणाय नमः । सानुगाय सोमाय नमः । मरुद्भ्यो नमः । अद्भ्यो नमः । वनस्पतिभ्यो नमः । श्रियै नमः । भद्रकाल्यै नमः । ब्रह्मपतये नमः । वास्तुपतये नमः । विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः । नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः । सर्वात्मभूतये नमः ॥

इन भागों को जो कोई अतिथि हो तो उसको जिमा देवे अथवा अग्नि में छोड़ देवे । इसके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर छः भाग में धरे । इसमें प्रमाणः—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ मनु० [३।९२]

इस प्रकार 'श्वभ्यो नमः, पतितेभ्यो नमः, श्वपग्भ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः ।'

धर कर पश्चात् किसी दुःखी, बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौवे आदि को देवे । यहां नमः शब्द का अर्थ अन्न अर्थात् कुत्ते, पापी, चांडाल, पापरोगी, कौवे और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना यह मनुस्मृति* आदि की विधि है । हवन करने

* मनु० अ० ३ । ८४–९२ ॥

का प्रयोजन यह है कि पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना और जो अज्ञात् अदृष्ट जीवों की हत्या होती है उसका प्रत्युपकार कर देना ।

अब पांचवीं अतिथिसेवा—अतिथि उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि निश्चित न हो अर्थात् अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाला पूर्णविद्वान, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहां आवे तो उसको प्रथम पाद्य, अर्घ और आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठाल कर खान पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा शुश्रूषा करके उसको प्रसन्न करे । पश्चात् सत्सङ्ग कर उनसे ज्ञान विज्ञान आदि जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे ऐसे ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और अपना चाल चलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे । समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं परन्तु—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान् ।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ मनु०[४।३०]

( पाषण्डी ) अर्थात् वेदनिन्दक, वेद विरुद्ध आचरण करने हारा, ( विकर्मस्थ ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता, मिथ्याभाषणादि युक्त जैसे विडाला छिप और स्थिर रहकर ताकता २ झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है वैसे जनों का नाम वैडालवृत्तिक, ( शठ ) अर्थात् हठी, दुराग्रही,

अभिमानी, आप जानें नहीं, औरों का कहा मानें नहीं ( हैतुक ) कुतर्की व्यर्थ बकने वाले जैसे कि आजकल के वेदान्ती बकते हैं हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है, वेदादि शास्त्र और ईश्वर भी कल्पित है इत्यादि गपोड़ा हांकने वाले, ( वकवृत्ति ) जैसे वक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है वैसे आजकल के वैरागी और खाकी आदि हठी, दुराग्रही, वेदविरोधी हैं ऐसों का सत्कार वाणीमात्र से भी न करना चाहिये। क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवनति के काम करते ही हैं परन्तु साथ में सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबो देते हैं।

इन पांच महायज्ञों का फल यह है कि ब्रह्मयज्ञ के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि। अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना अर्थात् शुद्ध वायु का श्वासास्पर्श, खान पान, आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना इसीलिये इसको 'देवयज्ञ' कहते हैं। पितृयज्ञ से जब माता पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा तब उसका ज्ञान बढ़ेगा। उससे सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। दूसरा कृतज्ञता अर्थात् जैसी सेवा माता पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की है उसका बदला देना उचित ही है। बलिवैश्वदेव का भी फल जो पूर्व कह आये वही है। जबतक

उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तबतक उन्नति भी नहीं होती उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देहनिवृत्ति नहीं होती, सन्देह निवृत्ति के विना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता। निश्चय के विना सुख कहां?

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशाँश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च॥
मनु० [ ४। ९२ ]

रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे आवश्यक कार्य्य करके धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों का निदान और परमात्मा का ध्यान करे, कभी अधर्म का आचरण न करे। क्योंकि:—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति॥ मनु० [४। १७२]

किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता, परन्तु जिस समय अधर्म करता है उसी समय फल भी नहीं होता, इसलिये अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते, तथापि निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे २ तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है। इस क्रम से—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ मनु० [४।१७४]

जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैसे तालाब के बंध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है वैसे) मिथ्याभाषण, कपट, पाखंड, अर्थात् रक्षा करनेवाले वेदों का खण्डन और विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है, पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान, पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मान, प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है, पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है, जैसे जड़ काटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है वैसे अधर्मी नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ मनु०[४।१७५]

जो [ विद्वान् ] वेदोक्त सत्य धर्म अर्थात् पक्षपात रहित होकर सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग, न्यायरूप वेदोक्त धर्मादि आर्य अर्थात् धर्म में चलते हुये के समान धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करे ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्य्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १ ॥
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ २ ॥
मनु० [ ४ । १७९, १८० ]

(ऋत्विक्) यज्ञ का करनेहारा, (पुरोहित) सदा उत्तम चाल चलन की शिक्षाकारक, (आचार्य) विद्या पढ़ानेहारा, (मातुल) मामा, (अतिथि) अर्थात् जिसकी कोई आने जाने की निश्चित तिथि न हो, (संश्रित) अपने आश्रित, (बाल) बालक, (वृद्ध) बुड्ढा, (आतुर) पीड़ित, (वैद्य) आयुर्वेद का ज्ञाता, (ज्ञाति) स्वगोत्र वा स्ववर्णस्थ, (सम्बन्धी) श्वशुर आदि, (बान्धव) मित्र ॥ १ ॥ (माता) माता, (पिता) पिता, (यामी) बहिन, (भ्राता) भाई, (भार्या) स्त्री, (दुहिता) पुत्री और सेवक लोगों से विवाद अर्थात् विरुद्ध लड़ाई बखेड़ा कभी न करे ॥ २ ॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति ॥ मनु० [४।१९०]

एक (अतपाः) ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषणादि तपरहित, दूसरा (अनधीयानः) विना पढ़ा हुआ, तीसरा (प्रतिग्रहरुचिः) अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेनेवाला, ये तीनों पत्थर की नौका से समुद्र में तरने के समान अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं। वे तो डूबते ही हैं परन्तु दाताओं को साथ डुबा लेते हैंः—

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ मनु० [४।१९३]

जो धर्म से प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है वह

दान दाता का नाश इसी जन्म और लेनेवाले का नाश परजन्म में करता है ॥ जो वे ऐसे हों तो क्या हो:—

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ मनु० [४।१९४]

जैसे पत्थर की नौका में बैठ के जल में तरनेवाला डूब जाता है वैसे अज्ञानी दाता और ग्रहीता दोनों अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं ॥

## पाखण्डियों के लक्षण ।

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥ १ ॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ २ ॥

मनु० [ ४ । १९५, १९६ ]

( धर्मध्वजी ) धर्म कुछ भी न करे परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे, ( सदालुब्धः ) सर्वदा लोभ से युक्त, ( छाद्मिकः ) कपटी, ( लोकदम्भकः ) संसारी मनुष्य के सामने अपनी बड़ाई के गपोड़े मारा करे, ( हिंस्रः ) प्राणियों का घातक, अन्य से वैरबुद्धि रखनेवाला, ( सर्वाभिसन्धकः ) सब अच्छे और बुरों से भी मेल रक्खे उसको वैडालव्रतिक अर्थात् बिडाले के समान

धूर्त्त और नीच समझो ॥ १ ॥ ( अधोदृष्टिः ) कीर्ति के लिये नीचे दृष्टि रक्खे, ( नैष्कृतिकः ) ईर्ष्यक, किसी ने उस का पैसा भर अपराध किया हो तो उसका बदला प्राण तक लेने को तत्पर रहे, ( स्वार्थसाधन० ) चाहे कपट, अधर्म, विश्वासघात क्यों न हो, अपना प्रयोजन साधने में चतुर, ( शठः ) चाहे अपनी बात झूंठी क्यों न हो परन्तु हठ कभी न छोड़े, (मिथ्याविनीतः ) झूंठ मूंठ ऊपर से शील संतोष और साधुता दिखलावे, उसको ( बकव्रत ) बगुले के समान नीच समझो, ऐसे २ लक्षणों वाले पाखण्डी होते हैं उनका विश्वास वा सेवा कभी न करें ॥

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ १ ॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २ ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एको नु भुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ ३ ॥

मनु० [ ४ । २३८–२४० ]

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४ ॥

[ महाभारते उद्योगप० प्रजागरप० ॥ अ० ३३ । ४२]

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ ५ ॥

मनु० [ ५ । २४१ ]

स्त्री और पुरुष को चाहिये कि जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक, वल्मीक अर्थात् बांमी को बनाती है वैसे सब भूतों को पीड़ा न देकर परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ धीरे २ धर्म का संचय करे ॥ १ ॥ क्योंकि परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री, न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं, किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है ॥२॥ देखिये, अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता, एक ही धर्म का फल जो सुख और अधर्म का जो दुःखरूप फल उसको भोगता है ॥ ३ ॥ यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है और महाजन अर्थात् सब कुटुम्ब उसको भोगता है, भोगनेवाले दोषभागी नहीं होते, किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है ॥ ४ ॥ जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है, उसको मट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर पीठ दे बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं, कोई उसके साथ जानेवाला नहीं होता, किन्तु एक धर्म ही उसका सङ्गी होता है ॥ ५ ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ १ ॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम् ।

परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ २ ॥

मनु० [ ४ । २४२, २४३ ]

उस हेतु से परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और जन्म के सहायार्थ नित्य धर्म का सञ्चय धीरे २ करता जाय, क्योंकि धर्म ही के सहाय से बड़े २ दुस्तर दुःखसागर को जीव तर सकता है ॥ १ ॥ किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता, जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य पाप दूर होगया उसको प्रकाशस्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है उस परलोक अर्थात् परमदर्शनीय परमात्मा को धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है ॥ २ ॥ इसलिये:—

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ १ ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २ ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ३ ॥

मनु० [ ४ । २४६, १५६ ]

सदा दृढ़कारी, कोमल स्वभाव, जितेन्द्रिय; हिंसक, क्रूर, दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहनेहारा, धर्मात्मा, मन को जीत और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे ॥ १ ॥ परन्तु यह भी

ध्यान में रक्खे कि जिस वाणी में सब अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं वह वाणी ही उनका मूल और वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं उस वाणी को जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है वह सब चोरी आदि पापों का करने वाला है ॥ २ ॥ इसलिये मिथ्याभाषणादिरूप अधर्म को छोड़ जो धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु और धर्माचार से उत्तम प्रजा तथा अक्षय धन को प्राप्त होता है तथा जो धर्माचार में वर्त्तकर दुष्ट लक्षणों का नाश करता है उसके आचरण को सदा किया करे। क्योंकि:—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

मनु० [ ४ । १५७ ]

जो दुष्टाचारी पुरुष है वह संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त, दुःखभागी और निरन्तर व्याधियुक्त होकर अल्पायु का भी भोगनेहारा होता है। इसलिये ऐसा प्रयत्न करे:—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १ ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ २ ॥

मनु० [ ४ । १५९, १६० ]

जो २ पराधीन कर्म हो उस २ का प्रयत्न से त्याग और जो जो स्वाधीन कर्म हो उस २ का प्रयत्न के साथ सेवन करे ॥ १ ॥ क्योंकि जो २ पराधीनता है वह २ सब दुःख और जो २ स्वाधीनता है वह २ सब सुख, यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिये ॥२॥ परन्तु जो एक दूसरे के आधीन काम है वह २ आधीनता से ही करना चाहिये जैसे कि स्त्री और पुरुष का एक दूसरे के आधीन व्यवहार। अर्थात् स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का परस्पर प्रियाचरण अनुकूल रहना, व्यभिचार वा विरोध कभी न करना, पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री और बाहर के काम पुरुष के आधीन रहना, दुष्ट व्यसन में फँसने से एक दूसरे को रोकना, अर्थात् यही निश्चय जानना। जब विवाह होवे तब स्त्री के साथ पुरुष और पुरुष के साथ स्त्री बिक चुकी अर्थात् जो स्त्री और पुरुष के साथ हाव, भाव, नखशिखाग्रपर्यन्त जो कुछ हैं वह वीर्यादि एक दूसरे के आधीन होजाता है। स्त्री वा पुरुष प्रसन्नता के विना कोई भी व्यवहार न करें। इन में बड़े अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्या, परपुरुषगमनादि काम हैं। इनको छोड़ के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहें। जो ब्राह्मणवर्णस्थ हों तो पुरुष लड़कों को पढ़ावे तथा सुशिक्षिता स्त्री लड़कियों को पढ़ावे। नानाविध उपदेश और वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें। स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूजनीया अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है। जबतक गुरुकुल में रहें तबतक माता पिता के समान अध्यापकों को

समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें। पढ़ानेहारे अध्यापक और अध्यापिका कैसे होने चाहियें—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ १॥
निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्धधान एतत्पण्डितलक्षणम्॥ २॥
क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे
तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥ ३॥
नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः॥ ४॥
प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते॥ ५॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः॥ ६॥

ये सब महाभारत उद्योगपर्व, विदुरप्रजागर [अध्याय ३३] के श्लोक [ १६ ( ५,६ ), २२, २३, २८, २९ ] हैं।

अर्थ—जिसको आत्मज्ञान सम्यक् आरम्भ अर्थात् जो निकम्मा आलसी कभी न रहे, सुख, दुःख, हानि, लाभ, मानापमान, निन्दा, स्तुति में हर्ष शोक कभी न करे, धर्म ही में नित्य निश्चित रहे, जिसके मन को उत्तम २ पदार्थ अर्थात् विषयसम्बन्धी वस्तु आकर्षण न कर सकें, वही पण्डित कहाता है ॥ १ ॥ सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन, अधर्मयुक्त कामों का त्याग, ईश्वर, वेद, सत्याचार की निन्दा न करने हारा, ईश्वर, आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो यही पण्डित का कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म है ॥ २ ॥ जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके, बहुत काल-पर्य्यन्त शास्त्रों को पढ़े, सुने और विचारे, जो कुछ जाने उस को परोपकार में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिये कोई काम न करे, विना पूछे वा विना योग्य समय जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे वही प्रथमप्रज्ञान पण्डित होना चाहिये ॥ ३ ॥ जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे, नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे, आपत्काल में मोह को न प्राप्त अर्थात् व्याकुल न हो वही बुद्धिमान् पण्डित है ॥ ४ ॥ जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों के करने में अतिनिपुण, विचित्र, शास्त्रों के प्रकरणों का वक्ता, यथायोग्य तर्क और स्मृतिमान् ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो वही पण्डित कहाता है ॥ ५ ॥ जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल और जिस का श्रवण बुद्धि के अनुसार हो जो कभी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे वही पण्डित संज्ञा को प्राप्त होवे ॥ ६ ॥ जहां ऐसे ऐसे स्त्री पुरुष पढ़नेवाले होते

हैं वहां विद्या धर्म और उत्तमाचार की वृद्धि होकर प्रतिदिन आनन्द ही बढ़ता रहता है। पढ़ने में अयोग्य और मूर्ख के लक्षणः—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाऽकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥
अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ २ ॥

ये श्लोक भी महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर [ अध्याय ३३ । ३०, ३६ ] के हैं।

अर्थ—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा, न सुना और अतीव घमण्डी, दरिद्र होकर बड़े २ मनोरथ करनेहारा, विना कर्म से पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो उसी को बुद्धिमान् लोग मूढ़ कहते हैं ॥ १ ॥ जो विना बुलाये सभा वा किसी के घर में प्रविष्ट हो, उच्च आसन पर बैठना चाहे, विना पूछे सभा में बहुतसा बके, विश्वास के अयोग्य वस्तु वा मनुष्य में विश्वास करे वही मूढ़ और सब मनुष्यों में नीच मनुष्य कहाता है ॥ २ ॥ जहां ऐसे पुरुष अध्यापक, उपदेशक, गुरु और माननीय होते हैं वहां अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध और फूट बढ़ के दुःख ही बढ़ जाता है।

अब विद्यार्थियों के लक्षणः—

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।

स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥१॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥२॥

ये भी विदुरप्रजागर [ अध्याय ३९* ] के श्लोक हैं ।

अर्थ—( आलस्य ) अर्थात् शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा, मोह, किसी वस्तु में फँसावट, चपलता और इधर उधर की व्यर्थ कथा करना सुनना, पढ़ते पढ़ाते रुक जाना, अभिमानी, अत्यागी होना ये सात दोष विद्यार्थियों में होते हैं ॥१॥ जो ऐसे हैं उनको विद्या कभी नहीं आती । सुख भोगने की इच्छा करने वाले को विद्या कहां ? और विद्या पढ़नेवाले को सुख कहां ? क्योंकि विषयसुखार्थी विद्या को और विद्यार्थी विषयसुख को छोड़ दे ॥ २ । ऐसे किये विना विद्या कभी नहीं हो सकती और ऐसे को विद्या होती है:—

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥

जो सदा सत्याचार में प्रवृत्त, जितेन्द्रिय और जिनका वीर्य अधः स्खलित कभी न हो उन्हीं का ब्रह्मचर्य सच्चा और वे ही विद्वान् होते हैं ॥ १ ॥ इसलिये शुभ लक्षणयुक्त अध्यापक और

* अ० ४० । श्लोक ५, ६

विद्यार्थियों को होना चाहिये। अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्यता, जितेन्द्रियता, सुशीलतादि शुभगुणयुक्त शरीर और आत्मा का पूर्ण बल बढ़ा के समग्र वेदादि शास्त्रों में विद्वान् हों सदा उनकी कुचेष्टा छुड़ाने में और विद्या पढ़ाने में चेष्टा किया करें। और विद्यार्थी लोग सदा जितेन्द्रिय, शान्त, पढ़नेहारों में प्रेम, विचारशील परिश्रमी होकर ऐसा पुरुषार्थ करें जिससे पूर्ण विद्या, पूर्ण आयु, परिपूर्ण धर्म और पुरुषार्थ करना आ जाय, इत्यादि ब्राह्मण वर्णों के काम हैं।

क्षत्रियों का कर्म राजधर्म में कहेंगे।

[ वैश्यों के कर्म ब्रह्मचर्यादि से वेदादि विद्या ] पढ़ [ विवाह करके] देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना, बेचना, ख़रीदना, द्वीपद्वीपान्तर में जाना आना, लाभार्थ काम का आरंभ करना, पशुपालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी करानी, धन का बढ़ाना, विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना, सत्यवादी निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यवहार करना, सब वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी जिससे कोई नष्ट न होने पावे।

शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाकविद्या में निपुण, अतिप्रेम से द्विजों की सेवा और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे और द्विज लोग इसके खान, पान, वस्त्र, स्थान, विवाहादि में जो कुछ व्यय हो सब कुछ देवें। अथवा मासिक कर देवें। चारों वर्णों को परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख, दुःख,

हानि, लाभ, में एकमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन, मन, धन, का व्यय करते रहना।

(प्रश्न) गृहाश्रम सबसे छोटा वा बड़ा है ?

(उत्तर) अपने २ कर्त्तव्य कर्मों में सब बड़े हैं परन्तु:—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ १ ॥
[ मनु० ६ । ९० ]

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ २ ॥
यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ३ ॥
स संधार्य्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ४ ॥
[ मनु० ३ । ७७-७९ ]

जैसे नदी और बड़े बड़े नद तबतक भ्रमते ही रहते हैं जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ ही के आश्रम से सब आश्रम स्थिर रहते हैं विना इस आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि दे के प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यव-

हारों में धुरन्धर कहाता है इसलिये जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने अयोग्य है उसको अच्छे प्रकार धारण करे। इसलिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिये गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है। यह संक्षेप से समावर्तन, विवाह और गृहाश्रम के विषय में शिक्षा लिख दी। इसके आगे वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में लिखा जायगा।

# अथ पञ्चमसमुल्लासारम्भः

## अथ वानप्रस्थसंन्यासविधिं वक्ष्यामः

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥* शत० कां० १४ ॥

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

---

* [ जाबाल उप० ४ ]

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥
मनु० [ ६ । १–५ ]

इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहर कर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीत के वन में बसे ॥१॥ परन्तु जब गृहस्थ शिर के श्वेत केश और त्वचा ढीली हो जाय और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके बसे ॥२॥ सब ग्राम के आहार और वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़ पुत्रों के पास स्त्री को रख वा अपने साथ लेके वन में निवास करे ॥३॥ साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को ले के ग्राम से निकल, दृढ़ेन्द्रिय होकर अरण्य में जाके बसे ॥ ४ ॥ नाना प्रकार के सामा आदि अन्न, सुन्दर २ शाक, मूल, फल, फूल कंदादि से पूर्वोक्त पंच महायज्ञों को करे और उसी से अतिथिसेवा और आप भी निर्वाह करे ॥ ५ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ १ ॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २ ॥ मनु०[६।८,२६]

स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने पढ़ाने में नि [त्य] युक्त, जितात्मा, सब का मित्र, इन्द्रियों का दमन शील, विद्यादि का दान देने-

हारा और सब पर दयालु, किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे इस प्रकार सदा वर्त्तमान करे ॥ १ ॥ शरीर के सुख के लिये अति प्रयत्न न करे, किन्तु ब्रह्मचारी [ रहे ] अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषयचेष्टा कुछ न करे, भूमि में सोवे, अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में वसे ॥ २ ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ १ ॥ मुण्ड० ॥ खं० २ । मं० ११॥

जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप, धर्म्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुये जंगल में वसते हैं वे जहां नाशरहित, पूर्ण पुरुष, हानि-लाभरहित परमात्मा है, वहां निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं ॥ १ ॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥ १ ॥
यजुर्वेदे ॥ अध्याय २० । मं० २४ ॥

वानप्रस्थ को उचित है कि मैं अग्नि में होम कर दीक्षित होकर व्रत, सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊं, ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो । नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे । पश्चात् जब

संन्यास ग्रहण की इच्छा हो तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे, फिर संन्यास ग्रहण करे। इति संक्षेपेण वानप्रस्थविधिः।

## अथ संन्यासविधिः

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥ मनु०[६।३३]

इस प्रकार वन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़ के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे।

(प्रश्न) गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके संन्यासाश्रम करे उसको पाप होता है वा नहीं?

(उत्तर) होता है और नहीं भी होता।

(प्रश्न) यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो?

(उत्तर) दो प्रकार की नहीं क्योंकि जो बाल्यावस्था में विरक्त होकर विषयों में फँसे वह महापापी, और जो न फँसे वह महापुण्यात्मा सत्पुरुष है।

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्॥❀

ये ब्राह्मणग्रन्थ के वचन हैं। जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो उसी दिन घर वा वन से संन्यास ग्रहण कर लेवे पहले। संन्यास

❀ [जाबाल उप० ४]

का पक्ष क्रम कहा और इसमें विकल्प अर्थात् वानप्रस्थ न करे, गृहस्थाश्रम ही से संन्यास ग्रहण करे। और तृतीय पक्ष यह है कि जो पूर्ण विद्वान्, जितेन्द्रिय, विषयभोग की कामना से रहित, परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो वह ब्रह्मचर्याश्रम ही से संन्यास लेवे और वेदों में भी 'यतयः'। 'ब्राह्मणस्य', 'विजानतः' इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है, परन्तुः—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
कठ०। वल्ली २। मं० २३॥

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं और जिसका मन शान्त नहीं है, वह संन्यास ले के भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता, इसलियेः—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥
कठ०। वल्ली ३। मं० १३॥

संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोक के उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ मुण्ड०। खं०२।मं०१२ ॥

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे क्योंकि 'अकृत' अर्थात् न किया हुआ परमात्मा 'कृत' अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता इसलिये कुछ अर्पण के अर्थ हाथ में ले के वेदवित् और परमेश्वर को जानने वाले गुरु के पास विज्ञान के लिये जावे, जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे, परन्तु सदा इनका संग छोड़ देवे कि जोः—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ १ ॥
अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्
तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ २ ॥
मुण्ड० । खं० २ । मं० ८ । ९ ॥

जो अविद्या के भीतर खेल रहे, अपने को धीर और पंडित मानते हैं वे नीच गति को जानेहारे मूढ़, जैसे अंधे

के पीछे अंधे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं वैसे दुःखों को पाते हैं ॥१॥ जो बहुधा अविद्या में रमण करनेवाले, बालबुद्धि, हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं, जिसको केवल कर्मकांडी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते वे आतुर होके जन्म मरणरूप दुःख में गिरे रहते हैं ॥ २ ॥ इसलिये:—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

मुण्ड० । खं० २ मं० ६ ॥

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थ-ज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं वे परमेश्वर में मुक्तिसुख को प्राप्त हो, भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है, तब वहां से छूटकर संसार में आते हैं, मुक्ति के विना दुःख का नाश नहीं होता, क्योंकि:—

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्य-
शरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥

छान्दो० । [ प्र० ८ । खं० १२ ]

जो देहधारी है वह सुख दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीर रहित जीवात्मा मुक्ति में सर्व-व्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है तब उसको सांसारिक सुख दुःख प्राप्त नहीं होता, इसलिये:—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥

शत० कां०१४। [प्र०५। ब्रा०२। क०१]

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग, वा मान्य पुत्रादि के मोह से अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ॥ १ ॥ यजुर्वेदब्राह्मणे ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ २ ॥
यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३ ॥

मनु० [ ६ । ३८, ३९ ]

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत शिखादि चिह्नों को छोड़, आहवनीयादि पांच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकल कर संन्यासी हो जावे ॥१ ॥ २ ॥ जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर घर से निकल के संन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वरप्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं

के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिये प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है।

( प्रश्न ) संन्यासियों का क्या धर्म है ?

( उत्तर ) धर्म तो पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है परन्तु संन्यासी का विशेष धर्म यह है किः—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १ ॥
क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ २ ॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ३ ॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ४ ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ७ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ८ ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ९ ॥

प्राणयामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥१०॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ११ ॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम् ॥ १२ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ १४ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ १५ ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्शनैः शनैः ।
सर्वद्वन्दविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ १६ ॥
मनु० अ० ६ । [ ४६, ४८, ४६,५२,६०, ६६,६७, ७०–७३, ७५, ८०, ८१, ६१, ६२ ]

जब संन्यासी मार्ग में चले तब इधर उधर न देखकर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रख के चले । सदा वस्त्र से छान के जल पिये, निरन्तर सत्य ही बोले, सर्वदा मन से विचार के सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥ १ ॥ जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे, किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे और एक मुख का, दो नासिका के दो आंख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले ॥ २ ॥ अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षा रहित, मद्य मांसादि वर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिये सदा विचरता रहे ॥ ३ ॥ केश, नख, डाढ़ी, मूछ को छेदन करवावे, सुन्दर पात्र, दण्ड और कुसुम्भ आदि से रंगे हुए वस्त्रों को धारण करके, निश्चितात्मा सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे ॥४॥ इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग द्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्तकर मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाया करे ॥ ५ ॥ कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी

जिस किसी आश्रम में वर्त्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्न-धारण धर्म का कारण नहीं हैं, सब मनुष्यादि प्राणियों के सत्योपदेश और विद्या दान से उन्नति करना सन्यासी का मुख्य कर्म है ॥ ६ ॥ क्योंकि यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीस के गदरे जल में डालने से जल का शोधक होता है तदपि विना [ उसके ] डाले नाम कथन वा श्रवणमात्र से जल शुद्ध नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ इसलिये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकार पूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम, जितनी शक्ति हो उतने करे परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम, कभी न करे, यही संन्यासी का परम तप है ॥ ८ । क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत होते हैं ॥ ६ ॥ इसलिये संन्यासी लोग नित्य प्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष, शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें ॥ १० ॥ इसी ध्यानरोग से जो अयोगी अविद्वानों को दुःख से जानने योग्य छोटे बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति उसको और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे ॥ ११ ॥ जब भूतों से निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों

का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण से इस संसार में मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सके हैं अन्य कोई नहीं ॥ १२ ॥ जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह, कांक्षारहित और सब बाहर भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ इसलिये ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से दश लक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन करें ॥ १४ ॥ पहिला लक्षण-( धृति ) सदा धैर्य रखना, दूसरा-( क्षमा ) जोकि निन्दा स्तुति, मानापमान, हानिलाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना। तीसरा-( दम ) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे। चौथा-( अस्तेय ) चोरी त्याग अर्थात् विना आज्ञा वा छल कपट विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से पर-पदार्थ का ग्रहण करना चोरी और उसको छोड़ देना साहूकारी कहाती है। पांचवां-( शौच ) रागद्वेष पक्षपात छोड़ के भीतर और जल मृत्तिका मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी। छटा-( इन्द्रियनिग्रह ) अधर्माचरणों से रोक के इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना। सातवां-( धीः ) मादकद्रव्य बुद्धि-नाशक अन्य पदार्थ, दुष्टों का सङ्ग, आलस्य, प्रमाद आदि को छोड़ के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का सङ्ग, योगाभ्यास से बुद्धि को बढ़ाना। आठवां-( विद्या ) पृथिवी से लेके पर-मेश्वर पर्यन्त यथार्थज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना,

सत्य जैसा आत्मा में वैसा मन में जैसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना विद्या इससे विपरीत अविद्या है। नववां -( सत्य ) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना भी। तथा दशवां- ( अक्रोध ) क्रोधादि दोषों को छोड़ के शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करना धर्म का लक्षण है। इस दश लक्षणयुक्त पक्षपात-रहित न्यायाचरण धर्म का सेवन चारों आश्रमवाले करें और इसी वेदोक्त धर्म ही में आप चलना और दूसरों को समझाकर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है ॥ १५ ॥ इसी प्रकार से धीरे २ सब संगदोषों को छोड़ हर्ष शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा अधर्म व्यवहारों से छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर सत्य धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें ॥ १६ ॥

( प्रश्न ) संन्यासग्रहण की आवश्यकता क्या है ?

[ उत्तर ] जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है क्योंकि इस के विना विद्या, धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़ कर वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता

क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्य शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।

[प्रश्न] संन्यासी लोग कहते हैं कि हमको कुछ कर्त्तव्य नहीं, अन्न वस्त्र लेकर आनन्द में रहना, अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना? अपने को ब्रह्म मानकर सन्तुष्ट रहना, कोई आकर पूछे तो उसको भी वैसा ही उपदेश करना कि तू भी ब्रह्म है, तुझ को पाप पुण्य नहीं लगता, क्योंकि शीतोष्ण शरीर, क्षुधा, तृषा, प्राण और सुख दुःख मन का धर्म है। जगत् मिथ्या और जगत् के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूठे हैं. इसलिये इस में फंसना बुद्धिमानों का काम नहीं। जो कुछ पाप पुण्य होता है वह देह और इन्द्रियों का धर्म है, आत्मा का नहीं, इत्यादि उपदेश करते हैं और आपने कुछ विलक्षण संन्यास का धर्म कहा है अब हम किसकी बात सच्ची और किसकी झूंठी मानें?

[उत्तर] क्या उनको अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं? देखो 'वैदिकैश्चैव कर्मभिः' *मनुजी ने वैदिक जो धर्मयुक्त कर्म हैं, संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है। क्या भोजन छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे? जो ये कर्म नहीं छूट सकते तो

---

* [मनु० अ० ६। ७, ५]

उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पाप भागी नहीं होंगे ? जब गृहस्थों से अन्न वस्त्रादि लेते हैं और उनका प्रत्युपकार नहीं करते तो क्या वे महापापी नहीं होंगे ? जैसे आंख से देखना कान से सुनना न हो तो आंख और कान का होना व्यर्थ है वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि सत्यशास्त्रों का विचार, प्रचार नहीं करते तो वे भी जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं। और जो अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं वैसे उपदेश करनेवाले ही मिथ्यारूप और पाप के बढ़ानेहारे पापी हैं । जो कुछ शरीरादि से कर्म किया जाता है वह सब आत्मा ही का और उसके फल का भोगने वाला भी आत्मा है। जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं वे अविद्या निद्रा में सोते हैं । क्योंकि जीव अल्प, अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वज्ञ है, ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभावयुक्त है और जीव कभी बद्ध कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं हो सकती और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है, ब्रह्म जन्ममरण दुःख को कभी नहीं प्राप्त होता और जीव प्राप्त होता है इसलिये वह उनका उपदेश मिथ्या है।

[ प्रश्न ] सन्यासी सर्व कर्मविनाशी और अग्नि तथा धातु को स्पर्श नहीं करते यह बात सच्ची है वा नहीं।

(उत्तर) नहीं। 'सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन् । यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः स

प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी ।' जो ब्रह्म और जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय वह उत्तम स्वभाव जिस में हो वह संन्यासी कहाता है, इसमें सुकर्म का कर्त्ता और दुष्ट कर्मों का नाश करनेवाला संन्यासी कहाता है ।

(प्रश्न) अध्यापन और उपदेश गृहस्थ किया करते हैं, पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन है ?

(उत्तर) सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें, परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है उतनी गृहस्थों को नहीं । हां, जो ब्राह्मण हैं उनका यही काम है कि पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को सत्योपदेश और पढ़ाया करें । जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सकता । जब ब्राह्मण वेद विरुद्ध आचरण करें तब उनका नियन्ता संन्यासी होता है । इसलिये संन्यास का होना उचित है ।

(प्रश्न) "एकरात्रिं वसेद् ग्रामे" इत्यादि वचनों से संन्यासी को एकत्र एक रात्रिमात्र रहना अधिक निवास न करना चाहिये ।

(उत्तर) यह बात थोड़े से अंश में तो अच्छी है कि एकत्र-वास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता और स्थानान्तर का भी अभिमान होता है, राग द्वेष भी अधिक होता है । परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो रहे । जैसे जनक राजा के यहां चार चार महीने तक पञ्चशिखादि

और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और "एकत्र न रहना" यह बात आज कल के पाखण्डी सम्प्रदायियों ने बनाई है। क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा।

(प्रश्न) जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यास लेवेगा उसका निर्वाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है इसलिये गृहाश्रम वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध हो जाय तभी संन्यास लेना अच्छा है।

(उत्तर) जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके वह ब्रह्मचर्य्य से संन्यास न लेवे, परन्तु जो रोक सके वह क्यों न लेवे? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य्यसंरक्षण के गुण जाने हैं वा विषयासक्त कभी नहीं होता और उनका वीर्य्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिये होती है वैसी निरोगी के लिये नहीं। इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री को विद्या धर्मवृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो वह विवाह न करे। जैसे पंचशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं। इसलिये संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है और जो अनधिकारी संन्यासग्रहण करेगा तो आप डूबेगा औरों को भी डुबावेगा। जैसे "सम्राट्" चक्रवर्ती राजा होता है वैसे "परिव्राट्" संन्यासी होता है। प्रत्युत राजा अपने देश में वा स्वसम्बन्धियों में सत्कार पाता है और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है।

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥ १ ॥

[ यह ] चाणक्य नीतिशास्त्र का श्लोक है । विद्वान् और राजा की कभी तुल्यता नहीं हो सकती क्योंकि राजा अपने राज्य ही में मान और सत्कार पाता है और विद्वान् सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है । इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये ब्रह्मचर्य्य, सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ, विचार, ध्यान और विज्ञान बढ़ाने, तपश्चर्या करने के लिये वानप्रस्थ और वेदादि सत्य-शास्त्रों का प्रचार, धर्म व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सब को निःसंदेह करने आदि के लिये संन्यासाश्रम है । परन्तु जो संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते वे पतित और नरकगामी हैं । इससे संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश, शङ्कासमाधान, वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें ।

( प्रश्न ) जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी, गुसाईं, खाखी आदि हैं वे भी संन्यासाश्रम में गिने जायेंगे वा नहीं ?

( उत्तर ) नहीं क्योंकि उनमें संन्यास का एक भी लक्षण नहीं । वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वेद से [ अधिक ] अपने संप्रदाय के आचार्य्यों के वचन मानते और अपने ही मत की प्रशंसा करते, मिथ्या प्रपंच में फँसकर अपने स्वार्थ के

लिये दूसरों को अपने २ मत में फँसाते हैं । सुधार करना तो दूर रहा उसके बदले में संसार को बहका कर अधोगति को प्राप्त कराते और अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं इसलिये इनको संन्यासाश्रम में नहीं गिन सकते किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं ! इसमें कुछ संदेह नहीं। जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं जिससे आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं ।

यह संक्षेप से संन्यासाश्रम की शिक्षा लिखी । अब इसके आगे राजप्रजाधर्म विषय लिखा जायगा ।

# अथ षष्ठसमुल्लासारम्भः

## अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥
मनु० [ ७ । १, २ ]

अब मनुजी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि चारों वर्ण और चारों आश्रमों के व्यवहार कथन के पश्चात् राजधर्मों को कहेंगे कि किस प्रकार का राजा होना चाहिये और जैसे इसके होने का सम्भव तथा जैसे इसको परमसिद्धि प्राप्त होवे उसको सब प्रकार कहते हैं ॥ १ ॥ कि जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है वैसा विद्वान् सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे ॥ २ ॥ उसका प्रकार यह है—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ।
ऋ० मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६ ॥

ईश्वर उपदेश करता है कि ( राजाना ) राजा और प्रजा के पुरुष मिलके ( विदथे ) सुख प्राप्ति और विज्ञान वृद्धिकारक राजा प्रजा के सम्बन्धरूप व्यवहार में ( त्रीणि सदांसि ) तीन सभा अर्थात् विद्यार्य्यसभा, धर्मार्य्यसभा, राजार्य्यसभा नियत करके ( पुरूणि ) बहुत प्रकार के ( विश्वानि ) समग्र प्रजा सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को ( परिभूषथः ) सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें ।

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १ ॥[1]

अथर्व० कां० १५ । अनु० २ । व० ६ । मं० २ ॥

सभ्य[2] सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥ २ ॥[3]

अथर्व० कां० १९ । अनु० ७ । व० ५५ । मं० ६ ॥

( तम् ) उस राजधर्म को ( सभा च ) तीनों सभा ( समितिश्च ) संग्रामादि की व्यवस्था और ( सेना च ) सेना मिलकर पालन करें ॥ १ ॥ सभासद् और राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदों को आज्ञा देवे कि हे ( सभ्य ) सभा के योग्य मुख्य सभासद् ! तू ( मे ) मेरी ( सभाम् ) सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का ( पाहि ) पालन कर और ( ये च ) जो ( सभ्याः ) सभा के योग्य ( सभासदः ) सभासद् हैं वे भी सभा की व्यवस्था का पालन किया करें ॥ २ ॥ इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना

---

१. अथर्व० कां० १५ । सू० ९ । मं० २ ॥ २. सभ्यः सभां० इति संहिता । ३. अथर्व० कां० १९ । सू० ५५ । मं० ६ ॥

चाहिये, किन्तु राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे, यदि ऐसा न करोगे तोः—

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ।

विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति ॥ शत० कां० १३। प्र० २।ब्रा० ३।[कं० ७,८]

जो प्रजा से स्वतन्त्र, स्वाधीन राजवर्ग रहे तो ( राष्ट्रमेव-विश्याहन्ति ) राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें जिस लिये अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके ( राष्ट्री विशं-घातुकः ) प्रजा का नाशक होता है अर्थात् ( विशमेव राष्ट्रायाद्यां-करोति ) वह राजा प्रजा को खाये जाता ( अत्यन्त पीड़ित करता ) है इसलिये किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिये। जैसे सिंह या मांसाहारी हृष्ट पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं वैसे ( राष्ट्री विशमत्ति ) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता, श्रीमान् को लूट खूंट अन्याय से दण्ड लेके अपना प्रयोजन पूरा करेगा, इसलियेः—

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै ।

च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नमस्यो॑ भ॒वेह ॥

अथर्व० कां० ६। अनु० १०।*व० ६८। मं० १॥

---

* अथर्व० कां० ६। सू० ९८। १॥

हे मनुष्यो ! जो ( इह ) इस मनुष्य के समुदाय में ( इन्द्रः ) परम ऐश्वर्य का कर्त्ता शत्रुओं को ( जयाति ) जीत सके ( न पराजयातै ) जो शत्रुओं से पराजित न हो, ( राजसु ) राजाओं में ( अधिराजः ) सर्वोपरि विराजमान ( राजयातै ) प्रकाशमान हो ( चक्रुत्यः ) सभापति होने को अत्यन्त योग्य, ( ईड्यः ) प्रशंसनीय गुण, कर्म, स्वभावयुक्त, ( वन्द्यः ) सत्करणीय ( चोपसद्यः ) समीप जाने और शरण लेने योग्य (नमस्यः) सबका माननीय ( भव ) होवे उसी को सभापति राजा करे।

इमन्देवा असपत्नथं सुवध्वं महते क्षत्राय महते
ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥

यजु० अ० ६। मं० ४० ॥

हे ( देवाः ) विद्वानो ! राजप्रजाजनो ! तुम ( इमम् ) इस प्रकार के पुरुष को ( महते क्षत्राय ) बड़े चक्रवर्ति राज्य ( महते ज्यैष्ठयाय ) सब से बड़े होने, ( महतेजानराज्याय ) बड़े २ विद्वानों से युक्त राज्य पालने और ( इन्द्रस्येन्द्रियाय ) परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लिये, ( असपत्न सुवध्वम् ) सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित, पूर्ण विद्या विनययुक्त, सब के मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मान के सब भूगोल शत्रुरहित करो और—

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीलू उत प्रतिष्कभे।

युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥

ऋ० ॥ मं० १ । सू० ३९ । मं० २ ॥

ईश्वर उपदेश करता है कि हे राजपुरुषो ! ( वः ) तुम्हारे ( आयुधा ) आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी अर्थात् तोप, भुशुण्डी अर्थात् बन्दूक, धनुष, बाण, तलवार आदि शस्त्र शत्रुओं के ( पराणुदे ) पराजय करने ( उत प्रतिष्कभे ) और रोकने के लिये ( वीळू ) प्रशंसित और ( स्थिरा ) दृढ़ ( सन्तु ) हों । ( युष्माकम् ) और तुम्हारी ( तविषी ) सेना ( पनीयसी ) प्रशंसनीय ( अस्तु ) होवे कि जिससे तुम सदा विजयी होओ, परन्तु ( मा मर्त्यस्य मायिनः ) जो निन्दित अन्यायरूप काम करता है उसके लिये पूर्व वस्तु मत हों, अर्थात् जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। महाविद्वानों को विद्यासभाऽधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाऽधिकारी, प्रशंसनीय, धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद् और जो उन सब में सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभावयुक्त महान् पुरुष हो उस को राजसभा का पतिरूप मान के सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के आधीन सब लोग वर्तें, सब के हितकारक कामों से सम्मति करें, सर्वहित करने के लिये परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो २ निज के काम हैं उन २ में स्वतन्त्र रहें ।

पुनः उस सभापति के गुण कैसे होने चाहियें:—

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ १ ॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ २ ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुवेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ३ ॥

मनु० [अ० ७ ॥ ४, ६, ७]

वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्य-कर्त्ता, वायु के समान सब के प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने हारा, यम पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्त्तने-वाला, सूर्य्य के समान न्याय धर्म, विद्या का प्रकाशक, अन्ध-कार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने हारा, वरुण अर्थात् बांधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करने वाला, सभापति होवे ॥ १ ॥ जो सूर्यवत् प्रतापी सब के बाहर और भीतर मनों को अपने तेज से तपानेहारा, जिसको पृथिवी में करड़ी दृष्टि से देखने को कोई भी समर्थ न हो ॥ २ ॥ और जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्मप्रकाशक, धनवर्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्य वाला होवे वही सभाध्यक्ष, सभेश होने योग्य होवे ॥ ३ ॥

सच्चा राजा कौन है:—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १ ॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ ३ ॥
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ ४ ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ ५ ॥
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ ६ ॥
तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ ७ ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ ८ ॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ९ ॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ १० ॥

मनु० [ ७ ॥ १७–१९, २४–२८, ३०, ३१ ]

जो दण्ड है वही पुरुष, राजा, वही न्याय का प्रचार कर्त्ता और सबका शासनकर्त्ता, वही चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् ज़ामिन है ॥ १ ॥ वही प्रजा का शासन-कर्त्ता सब प्रजा का रक्षक सोते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में जागता है इसीलिए बुद्धिमान् लोग दण्ड ही को धर्म कहते हैं ॥ २ ॥ जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाय तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो विना विचारे चलाया जाय तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है ॥३॥ विना दण्ड के सब वर्ण दूषित और सब मर्यादा छिन्न भिन्न होजायें । दण्ड के यथावत् न होने से सब लोगों का प्रकोप हो जावे ॥ ४ ॥ जहां कृष्णवर्ण, रक्तनेत्र, भयङ्कर पुरुषके समान पापों का नाश करनेहारा दण्ड विचरता है वहां प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है परन्तु जो दण्ड का चलानेवाला पक्ष-पात रहित विद्वान् हो तो ॥ ५ ॥ जो उस दण्ड का चलानेवाला सत्यवादी, विचार का करनेहारा बुद्धिमान् धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने में पण्डित राजा है उसी को उस दण्ड का चलानेहारा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ ६ ॥ जो दण्ड को अच्छे प्रकार राजा चलाता है वह धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को बढ़ाता है और जो विषय में लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करनेहारा,

क्षुद्र. नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है, वह दण्ड से ही मारा जाता है ॥ ७ ॥ जब दण्ड बड़ा तेजोमय है उसको अविद्वान्, अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता तब वह दण्ड धर्म से रहित कुटुम्बसहित राजा ही का नाश कर देता है ॥ ८ ॥ क्योंकि जो आप्त पुरुषों के सहाय, विद्या, सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ और जो पवित्र आत्मा, सत्याचार और सत्पुरुषों का सङ्गी यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् है वही न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है ॥ १० । इसलिये:—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १ ॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ २ ॥

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ ३ ॥

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ४ ॥

एकोपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ५ ॥

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ६ ॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ७ ॥

मनु० [ अ० १२ ॥ १००, ११०–११५ ]

सब सेना और सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य और सब के ऊपर वर्तमान सर्वाधीश, राज्याधिकार इन चारों अधिकारों में संपूर्ण वेद शास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्या वाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिये अर्थात् मुख्य सेनापति मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, प्रधान और राजा ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहियें ॥ १ ॥ न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे उस धर्म अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई भी न करे ॥ २ ॥ इस सभा में चारों वेद, न्याय शास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों, परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों तब वह सभा [ हो ] कि जिसमें दश विद्वानों से न्यून न होने चाहियें ॥ ३ ॥ और जिस सभा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के जानने वाले तीन सभासद् होके व्यवस्था करें उस सभा की की हुई व्यवस्था को भी कोई उल्लंघन न करे ॥ ४ ॥ यदि एक अकेला सब वेदों का जामनेहारा, द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था

करे वही श्रेष्ठ धर्म है क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों लाखों क्रोड़ों मिल के जो कुछ व्यवस्था करें उसको कभी न मानना चाहिये ॥ ५ ॥ जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि व्रत, वेदविद्या वा विचार से रहित जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्त्तमान हैं उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती ॥ ६ ॥ जो अविद्यायुक्त, मूर्ख, वेदों के न जानने वाले मनुष्य जिस धर्म को कहें उसको कभी न मानना चाहिये क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं उनके पीछे सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं ॥ ७ ॥ इसलिये तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करे किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करे और सब लोग ऐसेः—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भाँश्च लोकतः ॥ १ ॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशेस्थापयितुं प्रजाः ॥ २ ॥

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ३ ॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४ ॥

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः ।

तौर्य्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ५ ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ६ ॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ७ ॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ८ ॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ९ ॥
सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ १० ॥
व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ ११ ॥

मनु० [ ७ । ४३–५३ ]

राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे चारों वेदों की कर्मोपासना, ज्ञान, विद्याओं के जानने वालों से तीनों विद्या, सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण कर्म स्वभावरूप को यथावत् जानने-रूप ब्रह्मविद्या और लोक से वार्ताओं का आरम्भ ( कहना और पूछना ) सीखकर सभासद् वा सभापति हो सके ॥ १ ॥ सब

सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीतने अर्थात् अपने वश में रख के सदा धर्म में वर्त्तें और अधर्म से हटे हटाए रहें, इसलिये रात दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें, क्योंकि जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों ( जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इस ) को जीते विना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥ २ ॥ दृढ़ोत्साही होकर जो काम से दश और क्रोध से आठ दुष्ट व्यसन कि जिन में फँसा हुआ मनुष्य कठिनता से निकल सके, उनको प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे ॥ ३ ॥ क्योंकि जो राजा काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फँसता है वह अर्थ अर्थात् राज्य धनादि और धर्म से रहित हो जाता है और जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फँसता है वह शरीर से भी रहित हो जाता है ॥ ४ ॥ काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं देखो—मृगया खेलना, ( अक्ष ) अर्थात् चौपड़ खेलना, जुआ खेलनादि, दिन में सोना, कामकथा वा दूसरे की निन्दा किया करना, स्त्रियों का अतिसंग, मादक द्रव्य अर्थात् मद्य, अफीम, भांग, गांजा, चरस आदि का सेवन, गाना, बजाना, नाचना, वा नाच कराना सुनना और देखना, वृथा इधर उधर घूमते रहना, ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं ॥ ५ ॥ क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं—( पैशुन्यम् ) अर्थात् चुगली करना, विना विचारे बलात्कार से किसी की स्त्री से बुरा काम करना, द्रोह रखना, ईर्ष्या अर्थात् दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देखकर जला करना, 'असूया' दोषों में गुण, गुणों में दोषारोपण करना,

'अर्थदूषण' अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामों में धनादि का व्यय करना, कठोर वचन बोलना और विना अपराध कड़ा वचन वा विशेष दण्ड देना ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥ जो सब विद्वान् लोग कामज और क्रोधजों का मूल जानते हैं कि जिससे ये सब दुर्गुण मनुष्य को प्राप्त होते हैं उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े ॥ ७ ॥ काम के व्यसनों में बड़े दुर्गुण एक मद्यादि अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन, दूसरा पासों आदि से जुआ खेलना, तीसरा स्त्रियों का विशेष सङ्ग, चौथा मृगया खेलना ये चार महादुष्ट व्यसन हैं ॥ ८ ॥ और क्रोधजों में विना अपराध दण्ड देना, कठोर वचन बोलना और धनादि का अन्याय में खर्च करना ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए बड़े दुःखदायक दोष हैं ॥ ९ ॥ जो ये ७ दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में गिने हैं इनमें से पूर्व २ अर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से [ अन्याय ], अन्याय से दण्ड देना, इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त सङ्ग, इस से जुआ अर्थात् द्यूत करना और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा दुष्ट व्यसन है ॥ १० ॥ इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फँसने से मर जाना अच्छा है क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है वह अधिक जियेगा तो अधिक २ पाप करके नीच २ गति अर्थात् अधिक २ दुःख को प्राप्त होता जायगा और जो किसी व्यसन में नहीं फँसा वह मर भी जायगा तो भी सुख को प्राप्त होता जायगा, इसलिये विशेष राजा और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामों में

न फँसे और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्म युक्त गुण कर्म स्वभावों में सदा वर्त्त के अच्छे २ काम किया करें ॥ ११ ॥

राजसभासद् और मंत्री कैसे होने चाहियें:—

मौलान् शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ १ ॥
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥ २ ॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ३ ॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ४ ॥
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्रज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्त्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ५ ॥
निवर्त्तेतास्य यावद्भिरिति कर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६ ॥
तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ७ ॥
दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम ॥ ८ ॥

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६ ॥
मनु० [ ७ । ५४–५७, ६०–६४ ]

स्वराज्य, स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित, सात व आठ उत्तम धार्मिक चतुर ( सचिवान् ) अर्थात् मंत्री करे ॥ १ ॥ क्योंकि विशेष सहाय के विना जो सुगम कर्म है वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है, जब ऐसा है तो महान् राज्यकर्म्म एक से कैसे हो सकता है ? इसलिये एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य्य का निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है ॥ २ ॥ इससे सभापति को उचित है कि नित्यप्रति उन राज्य कर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ सामान्य करके किसी से ( सन्धि ) मित्रता, किसी से ( विग्रह ) विरोध, ( स्थान ) स्थिति समय को देख के चुपचाप रहना, अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना, ( समुदयम् ) जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना, ( गुप्तिम् ) मूल राजसेना कोश आदि की रक्षा, ( लब्धप्रशमनानि ) जो २ देश प्राप्त हों उस २ में शान्ति स्थापन, उपद्रव रहित करना, इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करें ॥ ३ ॥ विचार से करना कि उन सभासदों का पृथक् २ अपना २ विचार और अभिप्राय को सुनकर बहुपक्षानुसार कार्यों में जो कार्य अपना और अन्य का

हितकारक हो वह करने लगना ॥ ४ ॥ अन्य भी पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, निश्चितबुद्धि, पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर, सुपरीक्षित मन्त्री करे ॥ ५ ॥ जितने मनुष्यों से राज्यकार्य्य सिद्ध हो सकें उतने आलस्य रहित बलवान् और बड़े २ चतुर प्रधान पुरुषों को अधिकारी अर्थात् नौकर करे ॥ ६ ॥ इनके आधीन शूरवीर, बलवान्, कुलोत्पन्न पवित्र भृत्यों को बड़े २ कर्मों में और भीरु डरने वालों को भीतर के कर्मों में नियुक्त करे ॥ ७ ॥ जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न चतुर पवित्र, हावभाव और चेष्टा से भीतर हृदय और भविष्यत् में होने वाली बात को जानने हारा सब शास्त्रों में विशारद, चतुर है, उस दूत को भी रक्खे ॥ ८ ॥ वह ऐसा हो कि राज काम में अत्यन्त उत्साह प्रीतियुक्त, निष्कपटी, पवित्रात्मा, चतुर, बहुत समय की बात को भी न भूलने वाला, देश और कालानुकूल वर्त्तमान का कर्त्ता, सुन्दर रूपयुक्त, निर्भय और बड़ा वक्ता हो वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है ॥ ९ ॥

(प्रश्न) संस्कृतविद्या में पूरी २ राजनीति है वा अधूरी ?

(उत्तर) पूरी है, क्योंकि जो २ भूगोल में राजनीति चली और चलेगी वह सब संस्कृत विद्या से ली है और जिनका प्रत्यक्ष लेख नहीं है उनके लियेः—

प्रत्यहं लोकदृष्टैश्चशास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ॥ मनु ॥ ८।३ ॥

जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें उन २ नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बांधा करे।

परन्तु इस पर नित्य ध्यान रक्खे कि जहां तक बन सके वहां तक बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें। युवावस्था में भी विना प्रसन्नता के विवाह न करना कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना कराना। व्यभिचार और बहुविवाह को बन्द करे कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या ज्ञान बढ़ाये जायँ और शरीर का बल न बढ़ावें तो एक ही बलवान् पुरुष ज्ञानी और सैकड़ों विद्वानों को जीत सकता है। और जो केवल शरीर ही का बल बढ़ाया जाय, आत्मा का नहीं तो भी राज्यपालन की उत्तम व्यवस्था विना विद्या के कभी नहीं हो सकती। विना व्यवस्था के सब आपस में ही फूट टूट, विरोध, लड़ाई झगड़ा करके नष्ट भ्रष्ट हो जायें। इसलिये सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाते रहना चाहिये। जैसा बल और बुद्धि नाशक व्यवहार व्यभिचार और अति विषयासक्ति है वैसा और कोई नहीं है। विशेषतः क्षत्रियों को दृढ़ांग और बलयुक्त होना चाहिए। क्योंकि जब वे ही विषयासक्त होंगे तो राज्यधर्म ही नष्ट हो जायगा। और इस पर भी ध्यान रखना चाहिए कि "यथा राजा तथा प्रजा" जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा होती है। इसलिये राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म न्याय से वर्त्तकर सब के सुधार का दृष्टान्त बनें।

यह संक्षेप से राजधर्म का वर्णन यहां किया है। विशेष वेद, मनुस्मृति के सप्तम, अष्टम, नवम अध्याय में और शुक्रनीति

तथा विदुरप्रजागर और महाभारत शान्तिपर्व के राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकों में देखकर पूर्ण राजनीति को धारण करके माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्त्ती राज्य करें और यह समझें कि "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम" १८। २९ (यह यजुर्वेद का वचन है) हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में से हम को राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे। अब आगे ईश्वर और वेद विषय में लिखा जायगा।

# अथ सप्तमसमुल्लासारम्भः

## अथेश्वरवेदविषयं व्याख्यास्यामः

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते
॥ १ ॥ ऋ० ॥ मं० १ । सू० १६४ । मं० ३९ ॥
ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ २ ॥
॥ यजु० ॥ अ० ४० । मं० १ ॥
अहम्भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥३॥
अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन
॥ ४ ॥ ऋ० ॥ मं० १० । सू० ४८ । मं० १, ५ ॥

( ऋचो अक्षरे० ) इस मन्त्र का अर्थ ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा में लिख चुके हैं अर्थात् जो सब दिव्य गुण कर्म स्वभाव

विद्यायुक्त और जिसमें पृथिवी सूर्य्यादि लोक स्थित हैं और जो आकाश के समान व्यापक सब देवों का देव परमेश्वर है उसको जो मनुष्य न जानते, न मानते और उसका ध्यान नहीं करते वे नास्तिक, मन्दमति सदा दुःख सागर में डूबे ही रहते हैं। इसलिये सर्वदा उसी को जानकर सब मनुष्य सुखी होते हैं।

( प्रश्न ) वेद में ईश्वर अनेक हैं इस बात को तुम मानते हो वा नहीं ?

(उत्तर) नहीं मानते, क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।

( प्रश्न ) वेदों में जो अनेक देवता लिखे हैं उसका क्या अभिप्राय है ?

( उत्तर ) देवता दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं, जैसी कि पृथिवी, परन्तु इसको कहीं ईश्वर वा उपासनीय नहीं माना है। देखो ! इसी मन्त्र में कि 'जिसमें सब देवता स्थित हैं वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है।' यह उनकी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से महादेव इसी लिये कहाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्त्ता, न्यायाधीश, अधिष्ठाता है। 'त्रयस्त्रिंशन्त्रिशता०'* इत्यादि वेदों में प्रमाण है। इसकी व्याख्या शतपथ में की है कि तेंतीस देव

*त्रयंस्त्रिꣳशत स्तुवत० यजु० १४। ३१॥

अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य्य और नक्षत्र सब सृष्टि के निवासस्थान होने से [ ये ] आठ वसु। प्राण, अपान, व्यान [उदान], समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र इसलिये कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं तब रोदन करानेवाले होते हैं। संवत्सर के बारह महीने बारह आदित्य इसलिये हैं कि ये सब की आयु को लेते जाते हैं। बिजुली का नाम इन्द्र इस हेतु से है कि परम-ऐश्वर्य का हेतु है। यज्ञ को प्रजापति कहने का कारण यह है कि जिससे वायु, वृष्टि, जल ओषधी की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है। ये तेंतीस पूर्वोक्त गुणों के योग से देव कहाते हैं। इनका स्वामी और सब से बड़ा होने से परमात्मा चौंतीसवां उपास्यदेव शतपथ के चौदहवें काण्ड में स्पष्ट लिखा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखा है। जो ये इन शास्त्रों को देखते तो वेदों में अनेक ईश्वर माननेरूप भ्रमजाल में गिरकर क्यों बहकते॥ १॥

हे मनुष्य! जो कुछ इस संसार में जगत् है उस सब में व्याप्त होकर नियन्ता है वह ईश्वर कहाता है उससे डर कर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर उस अन्याय का त्याग और न्यायाचरणरूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द को भोग॥ २॥

ईश्वर सब को उपदेश करता है कि हे मनुष्यो! मैं ईश्वर सब के पूर्व विद्यमान सब जगत् का पति हूं, मैं सनातन

जगत्कारण और सब धनों का विजय करनेवाला और दाता हूं मुझ ही को सब जीव जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं वैसे पुकारें। मैं सब को सुख देने हारे जगत् के लिये नाना प्रकार के भोजनों का विभाग पालन के लिये करता हूं ॥ ३ ॥

मैं परमैश्वर्य्यवान् सूर्य के सदृश सब जगत् का प्रकाशक हूं, कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता हूं, मैं ही जगत्रूप धन का निर्माता हूं, सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले मुझ ही को जानो, हे जीवो ! ऐश्वर्य प्राप्ति के यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धन को मुझ से मांगो और तुम लोग मेरी मित्रता से अलग मत होओ, हे मनुष्यो ! मैं सत्यभाषणरूप स्तुति करनेवाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन को देता हूं। मैं ब्रह्म अर्थात् वेद का प्रकाश करनेहारा और मुझको वह वेद यथावत् कहता, उससे सब के ज्ञान को मैं बढ़ाता, मैं सत्पुरुष का प्रेरक, यज्ञ करनेहारे को फलप्रदाता और इस विश्व में जो कुछ है उस सब कार्य्य को बनाने और धारण करनेवाला हूं, इसलिये तुम लोग मुझ को छोड़ किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो, मत मानो और मत जानो ॥ ४ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
[ अ० १३।४ ]

यह यजुर्वेद का मन्त्र है—हे मनुष्यो ! जो सृष्टि के पूर्व सब सूर्यादि तेज वाले लोकों का उत्पत्ति स्थान, आधार और जो कुछ

उत्पन्न हुआ था, है और होगा उसका स्वामी था, है और होगा वह पृथिवी से लेके सूर्य्यलोक पर्य्यन्त सृष्टि को बना के धारण कर रहा है। उस सुखस्वरूप परमात्मा ही की भक्ति जैसे हम करें वैसे तुम लोग भी करो॥ १॥

२६. (प्रश्न) आप ईश्वर २ कहते हो परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो?

(उत्तर) सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

(प्रश्न) ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते?

(उत्तर):—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥ [अ० १। सू० ४]

यह गौतम महर्षिकृत न्यायदर्शन का सूत्र है—जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है। और जब आत्मा, मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ

करता है उस समय, जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देख के कारण का अनुमान होता है।

(प्रश्न) ईश्वर व्यापक है वा किसी देश विशेष में रहता है?

(उत्तर) व्यापक है, क्योंकि जो एकदेश में रहता तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सब का धर्ता और प्रलयकर्त्ता नहीं हो सकता। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया का असम्भव है।

२८ (प्रश्न) परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है वा नहीं?

(उत्तर) है।

(प्रश्न) ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाय। क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख दुःख पहुंचाना। और दया उसको कहते हैं जो अपराधी को विना दण्ड दिये छोड़ देना।

( उत्तर ) न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से । दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हों । वही दया कहाती है जो पराये दुःखों का छुड़ाना । और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया वह ठीक नहीं, क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये उसी का नाम न्याय है । और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय तो दया का नाश हो जाय । क्योंकि एक अपराधी डांकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है जब एक के छोड़ने में सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है वह दया किस प्रकार हो सकती है । दया वही है कि उस डांकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना डांकू पर और उस डांकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है ।

( प्रश्न ) ईश्वर साकार है वा निराकार ?

( उत्तर ) निराकार, क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक न होता । जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते क्योंकि परिमित वस्तु में गुण कर्म स्वभाव भी परिमित रहते हैं तथा शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा और रोग, दोष, छेदन, भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता । इससे यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है । जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आंख आदि अवयवों का बनाने हारा दूसरा होना चाहिये । क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करनेवाला

निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये। जो कोई यहां ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था। इसलिये परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है।

२६ (प्रश्न) ईश्वर सर्वशक्तिमान् है वा नहीं ?

(उत्तर) है, परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जानते हो वैसा नहीं। किन्तु सर्वशक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता है। अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है।

(प्रश्न) हम तो ऐसा मानते कि ईश्वर चाहे सो करे क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है।

(उत्तर) वह क्या चाहता है ? जो तुम कहो कि सब कुच्छ चाहता और कर सकता है तो हम तुम से पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना स्वयं अविद्वान्, चोरी, व्यभिचारादि पाप कर्म कर और दुःखी भी हो सकता है ? जैसे ये काम ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव से विरुद्ध हैं तो जो तुम्हारा कहना है कि वह सब कुछ कर सकता है यह कभी नहीं घट सकता। इस लिये सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जो हमने कहा वही ठीक है।

२८ (प्रश्न) परमेश्वर सादि है वा अनादि ?

( उत्तर ) अनादि अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो उसको अनादि कहते हैं इत्यादि सब अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है देख लीजिये।

( प्रश्न ) परमेश्वर क्या चाहता है ?

( उत्तर ) सबकी भलाई और सब के लिये सुख चाहता है परन्तु स्वतन्त्रता के साथ किसी को विना पाप किये पराधीन नहीं करता।

( प्रश्न ) परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये वा नहीं ?

( उत्तर ) करनी चाहिये।

( प्रश्न ) क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति प्रार्थना करने वाले का पाप छुड़ा देगा ?

( उत्तर ) नहीं।

( प्रश्न ) तो फिर स्तुति प्रार्थना क्यों करना ?

( उत्तर ) उनके करने का फल अन्य ही है।

( प्रश्न ) क्या है ?

( उत्तर ) स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण कर्म स्वभाव से अपने गुण कर्म स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।

( प्रश्न ) इनको स्पष्ट करके समझाओ।

( उत्तर ) जैसे—

स पर्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॑स्नावि॒रꣳ शु॒द्धमपा॑पविद्धम् ।
क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूर्या॑थातथ्य॒तोऽर्था॒न् व्य॑दधा-
च्छाश्व॒तीभ्य॒ः समा॑भ्यः ॥ यजु० अ० ४० । मं० ८ ॥

(ईश्वर की स्तुति) वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सब का अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंसिद्ध, परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है। यह सगुण स्तुति अर्थात् जिस २ गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना यह सगुण, (अकाय) अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता इत्यादि जिस २ राग द्वेषादि गुणों से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है वह निर्गुण स्तुति है। इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं वैसे गुण कर्म स्वभाव अपने भी करना। जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे। और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुणकीर्त्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसकी स्तुति करना व्यर्थ है॥

प्रार्थना—

यां मे॒धां दे॑वग॒णाः पि॒तर॑श्चो॒पास॑ते ।

तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ १ ॥
यजु० ॥ अ० ३२ । मं० १४ ॥

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि । बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि । मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ २ ॥
यजु० ॥ अ० १६ । मं० ॥ ६ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन्तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥५
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥
यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥७
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ८ ॥
यजु० ॥ अ० ३४ । मं० १,२,३,४,५,६ ॥

हे अग्ने ! अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमेश्वर आप की कृपा से जिस बुद्धि की उपासना विद्वान्, ज्ञानी और योगी लोग करते हैं उसी बुद्धि से युक्त हम को इसी वर्त्तमान समय में बुद्धिमान् आप कीजिये ॥ १ ॥ आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझ में भी प्रकाश स्थापन कीजिये । आप अनन्त पराक्रमयुक्त हैं इसलिये मुझ में भी कृपाकटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिये । आप अनन्त बलयुक्त हैं [ इसलिये ] मुझ में भी बल धारण कीजिये । आप अनन्त सामर्थ्ययुक्त हैं इसलिये मुझ को भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिये। आप दुष्ट काम और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं । मुझ को भी वैसा ही कीजिये । आप निन्दा, स्तुति और स्व अपराधियों का सहन करने वाले हैं, कृपा से मुझ को भी वैसा ही कीजिये ॥२॥ हे दयानिधे ! आप की कृपा से मेरा मन जागते में दूर २ जाता, दिव्यगुणयुक्त रहता है और वही सोते हुये मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता वा स्वप्न में दूर २ जाने के समान व्यवहार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक, एक वह मेरा मन शिवसङ्कल्प अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का सङ्कल्प करने हारा होवे । किसी की हानि करने की इच्छायुक्त कभी न होवे ॥ ३ ॥ हे सर्वान्तर्यामी ! जिससे कर्म करने हारे धर्मयुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, पूजनीय और प्रजा के भीतर रहनेवाला है वह मेरा मन धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे ॥ ४ ॥ जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चितानेहारा, निश्चयात्मकवृत्ति है और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त और नाश-

रहित है, जिसके विना कोई कुछ भी नहीं कर सकता वह मेरा मन शुद्ध गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे ॥ ५ ॥ हे जगदीश्वर ! जिससे सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्य, वर्त्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलके सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिस में ज्ञान और क्रिया है, पांच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं वह मेरा मन योग विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे ॥ ६ ॥ हे परम विद्वान् परमेश्वर ! आप की कृपा से मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरा में आरा लगे रहते हैं वैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम-वेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है और जिसमें सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहे ॥७॥ हे सर्वनियन्ता ईश्वर ! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर उधर डुलाता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त वेग वाला है वह मेरा मन सब इन्द्रियों को अधर्मा-चरण से रोक के धर्मपथ में सदा चलाया करे ऐसी कृपा मुझ पर कीजिये ॥ ८ ॥

अग्ने नय॑ सु॒पथा॑ रा॒ये अ॒स्मान् विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान् ।
यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ उ॒क्तिं विधेम ॥

यजु० ॥ अ० ४० । मं० १६ ॥

हे सुख के दाता, स्वप्रकाशस्वरूप, सब को जाननेहारे परमात्मन्! आप हमको श्रेष्ठ मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये और जो हम में कुटिल पापाचरणरूप मार्ग है उससे पृथक् कीजिये। इसीलिये हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत सी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें।

मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ऽअर्भ॒कं मा न॒ उक्ष॑न्तमु॒त मा न॑ उक्षि॒तम्।
मा नो॑ वधीः पि॒तरं॒ मोत मा॒तरं॑ मा नः॑ प्रि॒यास्त॒न्वो॑ रुद्र रीरिषः॥

यजु० ॥ अ० १६। मं० १५॥

हे रुद्र! (दुष्टों को पाप के दुःखस्वरूप फल को दे के रुलाने वाले परमेश्वर!) आप हमारे छोटे बड़े जन, गर्भ, माता, पिता और प्रिय बन्धुवर्ग तथा शरीरों का हनन करने के लिये प्रेरित मत कीजिये, ऐसे मार्ग से हमको चलाइये जिस से हम आपके दण्डनीय न हों।

असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति॥ शतपथ ब्रा० [१४। ३। १। ३०]

हे परमगुरो परमात्मन्! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिये। अविद्यान्धकार को छुड़ा के विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कीजिये। और मृत्यु रोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्दरूप अमृत को प्राप्त कीजिये। अर्थात् जिस २ दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है वह विधि निषेधमुख

होने से सगुण, निर्गुण प्रार्थना। जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उसको वैसा ही वर्त्तमान करना चाहिये अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करे उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है। ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है कि जैसे हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सब से बड़ा, मेरे ही प्रतिष्ठा और मेरे आधीन सब हो जायँ इत्यादि, क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिये प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश करदे ? जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक उसकी प्रार्थना सफल हो जावे तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते २ कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा, हे परमेश्वर! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइये, मेरे मकान में झाड़ू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये और खेती बाड़ी भी कीजिये। इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते वे महामूर्ख हैं, क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी नहीं पावेगा। जैसे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ॥

यजु० ॥ अ० ४० । मं० २ ॥

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्य्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तबतक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो। देखो सृष्टि के बीच में जितने प्राणी अथवा अप्राणी हैं वे सब अपने २ कर्म और यत्न करते ही रहते हैं। जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा बढ़ते घटते रहते हैं वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है। जैसे काम करने वाले पुरुष को भृत्य करते हैं और अन्य आलसी को नहीं, देखने की इच्छा करने और नेत्र वाले को दिखलाते हैं अन्धे को नहीं, इसी प्रकार परमेश्वर भी सब के उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है हानिकारक कर्म में नहीं। जो कोई गुड़ मीठा है ऐसा कहता है उसको गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता और जो यत्न करता है उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है।

अब तीसरी उपासना—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

यह उपनिषद् का वचन है—जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट होगये हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का

सुख होता है वह वाणी से कहा नहीं जा सकता क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है। उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है। अष्टांग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने लिये जो २ काम करना होता है वह वह सब करना चाहिये, अर्थात्—

तत्राऽहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥

[ साधनपादे । सू० ३० ]

इत्यादि सूत्र पातञ्जलयोगशास्त्र के हैं। जो उपासना का आरम्भ करना चाहे उसके लिये यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा सब से प्रीति करे, सत्य बोले, चोरी न करे, सत्यव्यवहार करे, जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो और निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे। ये पांच प्रकार के यम मिल के उपासना योग का प्रथम अङ्ग है।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः ॥

योग सू० [ साधनपादे । सू० ३२ ]

राग द्वेष छोड़ भीतर और जलादि से बाहर पवित्र रहे, धर्म से पुरुषार्थ करने से लाभ में न प्रसन्नता और हानि में न अप्रसन्नता करे, प्रसन्न होकर आलस्य छोड़ सदा पुरुषार्थ किया करे, सदा दुःख सुखों का सहन और धर्म का अनुष्ठान करे अधर्म का नहीं। सर्वदा सत्य शास्त्रों को पढ़े पढ़ावे, सत्पुरुषों

का सङ्ग करे, और 'ओ३म्' इस एक परमात्मा के नाम का अर्थ विचार कर नित्य-प्रति जप किया करे। अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे। इन पांच प्रकार के नियमों को मिला के उपासनायोग का दूसरा अङ्ग कहाता है। इसके आगे छः अङ्ग योगशास्त्र व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका* में देख लेवें। जब उपासना करना चाहे तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा, प्राणायाम कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होजाने से संयमी होवें। जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण होजाता है। नित्यप्रति ज्ञान विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुंच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त होजाता है। वहां सर्वज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी सगुण और द्वेष, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित होजाना निर्गुणोपासना कहाती है।

इसका फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास

---

* ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में इनका वर्णन है। स० दा०

जाने से शीत निवृत्त होजाता है वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूट कर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र होजाते हैं। इसलिये परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिये। इससे इसका फल पृथक् होगा। परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा, वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सब को सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है ? और जो परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है, क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिये दे रक्खे हैं उसका गुण भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।

(प्रश्न) जब परमेश्वर के श्रोत्र नेत्रादि इन्द्रियां नहीं हैं, फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सकता है ?

(उत्तर)—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥

[ श्वेताश्वतर उपनिषद्। अ० ३। मं० १९ ]

यह उपनिषद् का वचन है। परमेश्वर के हाथ नहीं, परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सबका रचन, ग्रहण करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सब से अधिक वेगवान्, चक्षु का गोलक नहीं परन्तु सब को यथावत् देखता, श्रोत्र नहीं तथापि सब की

बातें सुनता, अन्तःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है और उसको अवधि सहित जाननेवाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन, सब से श्रेष्ठ सब में पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से [होनेवाले] काम अपने सामर्थ्य से करता है।

(प्रश्न) उसको बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं?

(उत्तर)—

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

[श्वेताश्वतर उपनिषद्। अ० ६। मं० ८]

यह उपनिषद् का वचन है। परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य्य और उसको करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं। न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। सर्वोत्तमशक्ति अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है। जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय न कर सकता। इसलिये वह विभु तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है।

26- (प्रश्न) ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं?

(उत्तर) नहीं, 'अजएकपात्' (३४।५३) 'सपर्य्यगाच्छुक्रमकायम्' (४०।८) ये यजुर्वेद के वचन हैं। इत्यादि वचनों से [सिद्ध है कि] परमेश्वर जन्म नहीं लेता।

( प्रश्न )—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
भ० गी० [ अ० ४ । श्लोक० ७ ]

श्रीकृष्णजी कहते हैं कि जब २ धर्म का लोप होता है तब तब मैं शरीर धारण करता हूँ ।

( उत्तर ) यह बात वेदविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं । और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग २ में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ तो कुछ दोष नहीं । क्योंकि "परोपकाराय सतां विभूतयः" परोपकार के लिये सत्पुरुषों का तन, मन, धन होता है । तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं होसकते ।

( प्रश्न ) जो ऐसा है तो संसार में चौबीस ईश्वर के अवतार होते हैं और इनको अवतार क्यों मानते हैं ?

( उत्तर ) वेदार्थ के न जानने, सम्प्रदायी लोगों के बहकाने और अपने आप अविद्वान् होने से भ्रमजाल में फँस के ऐसी २ अप्रामाणिक बातें करते और मानते हैं ।

( प्रश्न ) जो ईश्वर अवतार न लेवे तो कंस, रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सकें ?

( उत्तर ) प्रथम जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है । जो ईश्वर अवतार शरीर धारण किये विना जगत्

की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक होने से कंस रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है, जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला इस अनन्त गुण, कर्म, स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिये जन्म मरणयुक्त कहने वाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है ? और जो कोई कहे कि भक्तजनों के उद्धार करने के लिये जन्म लेता है तो भी सत्य नहीं, क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् का बनाने, धारण और प्रलय करने रूप कर्मों से कंस रावणादि का वध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं ? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो 'न भूतो न भविष्यति' ईश्वर के सदृश कोई न है, न होगा। और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि गर्भ में आया वा मूठी में धर लिया, ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता क्योंकि आकाश अनन्त और सब में व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता, वैसे ही अनन्त, सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उसका आना जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। जाना व आना वहां हो सकता है जहां न हो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया ? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला ? ऐसा

ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा। इसलिये परमेश्वर का जाना आना, जन्म मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये 'ईसा' आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं ऐसा समझ लेना। क्योंकि राग, द्वेष, क्षुधा, तृषा, भय, शोक, दु:ख, सुख, जन्म, मरण आदि गुणयुक्त होने से मनुष्य थे।

२६- (प्रश्न) ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं?

(उत्तर) नहीं, क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये। जैसे राजा अपराध को क्षमा करदे तो वे उत्साहपूर्वक अधिक अधिक २ बड़े २ पाप करें क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा करदेगा और उनको भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते वे भी अपराध करने से न डरकर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे इसलिये सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।

(प्रश्न) जीव स्वतन्त्र है वा परतन्त्र?

(उत्तर) अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है वही कर्त्ता है।

(प्रश्न) स्वतन्त्र किसको कहते हैं?

(उत्तर) जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों। जो स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता क्योंकि जैसे भृत्य, स्वामी और सेना, सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मार के अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों तो जीव को पाप पुण्य न लगे। उस फल का भागी प्रेरक परमेश्वर होवे। नरक स्वर्ग अर्थात् दुःख सुख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे। जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्रविशेष से किसी को मारडाला तो वही मारनेवाला पकड़ा जाता है और वही दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीव पाप पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिये अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र परन्तु जब वह पाप कर चुकता है तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिये कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःखरूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

अब संक्षेप से ईश्वर का विषय लिखकर वेद का विषय लिखते हैं।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भन्तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु०४ [सू०७] मं०२०॥

जिस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं वह कौनसा देव है? इसका उत्तर, जो सब को उत्पन्न करके धारण कर रहा है वह परमात्मा है।

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
यजु० अ० ४० । मं० ८ ॥

जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है वह सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।

(प्रश्न) परमेश्वर को आप निराकार मानते हो वा साकार?

(उत्तर) निराकार मानते हैं।

(प्रश्न) जब निराकार है तो वेदविद्या का उपदेश विना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में ताल्वादि स्थान, जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये।

(उत्तर) परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपने व्याप्ति से वेदविद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मुख जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न के बोध होने के लिये किया जाता है, कुछ अपने लिये नहीं। क्योंकि मुख जिह्वा के व्यापार करे विना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है। कानों को अंगुलियों से मूंद के देखो, सुनो कि विना मुख जिह्वा ताल्वादि स्थानों के कैसे २ शब्द हो रहे हैं, वैसे

जीवों को अन्तर्यामीरूप से उपदेश किया है। किन्तु केवल दूसरों को समझाने के लिये उच्चारण करने की आवश्यकता है। जब परमेश्वर निराकार, सर्वव्यापक है तो अपनी अखिल वेद-विद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है। फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरों को सुनाता है इसलिये ईश्वर में यह दोष नहीं आ सकता।

(प्रश्न) किनके आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया।

(उत्तर)—

अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।

शत० [ ११ । ४ । २ । ३ ]

प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियों के आत्मा में एक २ वेद का प्रकाश किया।

(प्रश्न) वेद को ईश्वर से होने की आवश्यकता कुछ भी नहीं क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना लेंगे।

(उत्तर) कभी नहीं बना सकते, क्योंकि विना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे जङ्गली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान् नहीं होते और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाय तो विद्वान् होजाते हैं। और अब भी किसी से पढ़े विना कोई भी विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार जो परमात्मा उन आदिसृष्टि के ऋषियों को वेदविद्या न पढ़ाता और वे अन्य

को न पढ़ाते तो सब लोग अविद्वान् ही रह जाते। जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश अविद्वानों वा पशुओं के संग में रख देवे तो वह जैसा संग है वैसा ही हो जायगा। इसका दृष्टान्त जङ्गली भील आदि हैं। जबतक आर्यावर्त्त देश से शिक्षा नहीं गई थी तब तक मिश्र, यूनान और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी और इङ्गलेण्ड के कुलुम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जबतक नहीं गये थे तब तक वे भी सहस्रों, लाखों, क्रोड़ों वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन थे, पुनः सुशिक्षा के पाने से विद्वान् होगये हैं वैसे ही परमात्मा से सृष्टि की आदि में विद्या शिक्षा की प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आये।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

योगसू० [ समाधिपादे सू० २६ ]

जैसे वर्त्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ ही के विद्वान् होते हैं वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ानेहारा है क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित होजाते हैं वैसा परमेश्वर नहीं होता। उसका ज्ञान नित्य है। इसलिये यह निश्चित जानना चाहिये कि विना निमित्त से नैमित्तिक अर्थ सिद्ध कभी नहीं होता।

---

# अथ अष्टमसमुल्लासारम्भः

## अथ सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलयविषयान् व्याख्यास्यामः

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥१॥
तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥२॥
ऋ० मं० १० । सू० १२९ । मं० ७ । ३ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥
ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १ ॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ ४ ॥
यजु० अ० ३१ । मं० २ ॥

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।

यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥ ५ ॥

तैत्तिरीयोपनि० [ भृगुवल्ली । अनु० १ ]

हे ( अङ्ग ) मनुष्य ! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलय करता है, जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है। उसको तू जान, और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान ॥ १ ॥ यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाश रूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सन्मुख एकदेशी, आच्छादित था, पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया ॥ २ ॥ हे मनुष्यो ! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार और जो यह जगत् हुआ, है और होगा उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था और जिसने पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है उस परमात्मदेव की प्रेम से भक्ति किया करो ॥ ३ ॥ हे मनुष्यो ! जो सब में पूर्ण पुरुष और जो नाश रहित कारण और जीव का स्वामी जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् को बनानेवाला है ॥ ४ ॥ जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं जिससे जीव और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्म है, उसके जानने की इच्छा करो ॥ ५ ॥

जन्माद्यस्य यतः ॥ शारीरिक* सू०अ०१ । पा०१ । सू०२॥

जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है वही ब्रह्म जानने योग्य है।

(प्रश्न) यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है वा अन्य से?

(उत्तर) निमित्त कारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है परन्तु इसका उपादान कारण प्रकृति है।

(प्रश्न) क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की?

(उत्तर) नहीं, वह अनादि है।

(प्रश्न) आदि किसको कहते और कितने पदार्थ अनादि हैं?

(उत्तर) ईश्वर, जीव और जगत् का कारण ये तीन अनादि हैं।

(प्रश्न) इसमें क्या प्रमाण है?

(उत्तर):—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥

ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० २० ॥

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥ यजु० अ० ४० । मं० ८ ॥

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और

---

* शारीरक सू०

पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं और (समानम्) वैसा ही (वृत्तम्) अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृत्त अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण, कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृत्तरूप संसार में पापपुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान होरहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्नस्वरूप तीनों अनादि हैं ॥ १ ॥ (शाश्वती) अर्थात् अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिये वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ॥ २ ॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः❀।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

[ श्वेताश्वतरोपनिषदि । अ० ४ । मं० ५ ]

यह उपनिषद् का वचन है। प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव

❀ 'सरूपाः'

करता हुआ फँसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है। ईश्वर और जीव का लक्षण ईश्वर विषय में कह आये। अब प्रकृति का लक्षण लिखते हैं।

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥

साङ्ख्य सूत्र [ अ० १ । सू० ६१ ]

( सत्व ) शुद्ध, ( रज ) मध्य, ( तमः ) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है उसका नाम प्रकृति है। उससे महत्तत्व बुद्धि, उससे अहङ्कार, उससे पांच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूत, ये चौबीस और पचीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है। इनमें से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्व अहङ्कार तथा पांच सूक्ष्म-भूत प्रकृति का कार्य्य और इन्द्रियां, मन तथा स्थूलभूतों का कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति, उपादान कारण और न किसी का कार्य्य है।

( प्रश्न ) जगत् के कारण कितने होते हैं ?

( उत्तर ) तीन, एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण। निमित्त कारण उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। दूसरा उपादान कारण उसको कहते

हैं जिसके विना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होके बने और विगड़े भी। तीसरा साधारण कारण उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो। निमित्त कारण दो प्रकार के हैं। एक सब सृष्टि को कारण से बनाने धारने और प्रलय करने तथा सब की व्यवस्था रखनेवाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा। दूसरा—परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेक विध कार्य्यान्तर बनानेवाला साधारण निमित्त कारण जीव। उपादान कारण प्रकृति, परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। वह जड़ होने से आपसे आप न बन और न विगड़ सकती है किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है। कहीं २ जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है, जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि जड़ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं परन्तु इनका नियम पूर्वक बनना वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव के आधीन है। जब कोई वस्तु बनाई जाती है तब जिन २ साधनों से अर्थात् ज्ञान, दर्शन, बल, हाथ और नाना प्रकार के साधन और दिशा, काल और आकाश साधारण कारण जैसे घड़े को बनाने वाला कुम्हार निमित्त, मट्टी उपादान और दण्ड चक्र आदि सामान्य निमित्त दिशा, काल, आकाश, प्रकाश, आंख, हाथ, ज्ञान, क्रिया आदि निमित्त साधारण और निमित्त कारण भी होते हैं। इन तीन कारणों के विना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती और न बिगड़ सकती है।

( प्रश्न ) नवीन वेदान्ती लोग केवल परमेश्वर ही को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च ॥

[ मुण्डको० मुं १ । खं० १, मं० ७ ]

यह उपनिषद् का वचन है । जैसे मकरी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती अपने ही में से तन्तु निकाल जाला बनाकर आप ही उसमें खेलती है वैसे ब्रह्म अपने में से जगत् को बना आप जगदाकार बन आप ही क्रीड़ा कर रहा है । सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि मैं बहुरूप अर्थात् जगदाकार होजाऊं । सङ्कल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया क्योंकि —

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा ॥

[ गौड़पादीय का० श्लोक ३१ ]

यह माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका है, जो प्रथम न हो, अन्त में न रहे वह वर्त्तमान में भी नहीं है, किन्तु सृष्टि की आदि में जगत् न था, ब्रह्म था । प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा और केवल ब्रह्म रहेगा तो वर्त्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं ?

( उत्तर ) जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादान कारण ब्रह्म होवे तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त विकारी होजावे । और उपादान कारण के गुण, कर्म, स्वभाव कार्य में भी आते हैं:—

कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः ॥
वैशेषिक सू० [ अ० २ । आ० १ । सू० २४ ॥ ]

उपादान कारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं तो ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप जगत्कार्य्यरूप से असत् जड़ और आनन्द-रहित, ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है, ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है, जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य्य उत्पन्न होवे तो पृथिव्यादि में कार्य्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं वैसा ब्रह्म भी जड़ होजाय। और जैसा परमेश्वर चेतन है वैसा पृथिव्यादि कार्य्य भी चेतन होना चाहिये। और जो मकरी का दृष्टान्त दिया वह तुम्हारे मत का साधक नहीं किन्तु बाधक है क्योंकि वह जड़रूप शरीर तन्तु का उपादान और जीवात्मा निमित्त कारण है और यह भी परमात्मा की अद्भुत रचना का प्रभाव है, क्योंकि अन्य जन्तु के शरीर से जीव तन्तु नहीं निकाल सकता। वैसे ही व्यापक ब्रह्म ने अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बनाकर बाहर स्थूलरूप कर आप उसी में व्यापक होके साक्षीभूत आनन्दमय हो रहा है। और जो परमात्मा ने ईक्षण अर्थात् दर्शन, विचार और कामना की कि मैं सब जगत् को बनाकर प्रसिद्ध होऊं अर्थात् जब जगत् उत्पन्न होता है तभी जीवों के विचार, ज्ञान, ध्यान, उपदेश, श्रवण में परमेश्वर प्रसिद्ध और बहुत स्थूल पदार्थों से सह वर्त्तमान होता है। जब प्रलय होता है तब परमे-

श्वर और मुक्त जीवों को छोड़ के उसको कोई नहीं जानता। और जो यह कारिका है वह भ्रममूलक है क्योंकि सृष्टि की आदि अर्थात् प्रलय में जगत् प्रसिद्ध नहीं था और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय के आरम्भ से जबतक दूसरी बार सृष्टि न होगी तब तक भी जगत् का कारण सूक्ष्म होकर अप्रसिद्ध रहता है, क्योंकिः—

तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ढमग्रे॑ ॥ [ऋ० मं० १० । सू० १२९ । मं० ३]

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ मनु० १ । ५ ॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले प्रलय में अन्धकार से आवृत आच्छादित था और प्रलयारम्भ के पश्चात् भी वैसा ही होता है। उस समय न किसी के जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था, और न होगा, किन्तु वर्त्तमान में जाना जाता है और प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता और यथावत् उपलब्ध है। पुनः उस कारिकाकार ने वर्त्तमान में भी जगत् का अभाव लिखा सो सर्वथा अप्रमाण है, क्योंकि जिसको प्रमाता प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है वह अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

(प्रश्न) जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है ?

(उत्तर) नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है ?

(प्रश्न) जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख दुःख प्राप्त न होता।

( उत्तर ) यह आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरुषार्थी की नहीं। और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है ? जो सृष्टि के सुख दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक होता और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं। प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं वैसे रहते हैं और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के लिये पाप पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्योंकर भोग सकते ? जो तुमसे कोई पूछे कि आंख के होने में क्या प्रयोजन है ? तुम यही कहोगे, देखना। तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का विज्ञान, बल और क्रिया है उसका क्या प्रयोजन, विना जगत् की उत्पत्ति करने के ? दूसरा कुछ भी न कह सकोगे और परमात्मा के न्याय, धारण, दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं जब जगत् को बनावे। उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।

( प्रश्न ) बीज पहले है वा वृक्ष ?

( उत्तर ) बीज, क्योंकि बीज, हेतु, निदान, निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थवाचक हैं। कारण का नाम बीज होने से कार्य के प्रथम ही होता है।

( प्रश्न ) जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह कारण

और जीव को भी उत्पन्न कर सकता है। जो नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् भी नहीं रह सकता ?

( उत्तर ) सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ पूर्व लिख आये हैं। परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी कर सके ? जो कोई असम्भव बात अर्थात् जैसा कारण के विना कार्य्य को कर सकता है तो विना कारण दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति और स्वयं मृत्यु को प्राप्त, जड़, दुःखी, अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है वा नहीं ? जो स्वाभाविक नियम अर्थात् जैसा अग्नि उष्ण, जल शीतल, और पृथिव्यादि सब जड़ों को विपरीत गुणवाले ईश्वर भी नहीं कर सकता। और ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं इसलिये परिवर्त्तन नहीं कर सकता । इसलिये सर्वशक्तिमान् का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा विना किसी के सहाय के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है ।

( प्रश्न ) ईश्वर साकार है वा निराकार ? जो निराकार है तो विना हाथ आदि साधनों के जगत् को न बना सकेगा और जो साकार है तो कोई दोष नहीं आता।

( उत्तर ) ईश्वर निराकार है, जो साकार अर्थात् शरीरयुक्त है वह ईश्वर नहीं, क्योंकि वह परिमित शक्तियुक्त, देश, काल, वस्तुओं में परिच्छिन्न, क्षुधा, तृषा, छेदन, भेदन, शीतोष्ण, ज्वर, पीड़ादि सहित होवे। उसमें जीव के विना ईश्वर के गुण कभी नहीं घट सकते। जैसे तुम और हम साकार अर्थात् शरीरधारी हैं इससे त्रसरेणु, अणु, परमाणु और प्रकृति को अपने वश में

नहीं ला सकते हैं वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् नहीं बना सकता। जो परमेश्वर भौतिक इन्द्रियगोलक हस्तपादादि अवयवों से रहित है, परन्तु उसकी अनन्त शक्ति, बल पराक्रम हैं, उनसे सब काम करता है जो जीव और प्रकृति से कभी न हो सकते। जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उन में व्यापक है तभी उनको पकड़ कर जगदाकार कर देता है।

( प्रश्न ) कल्प कल्पान्तर में ईश्वर सृष्टि विलक्षण २ बनाता है अथवा एक सी ?

( उत्तर ) जैसी कि अब है वैसी पहिले थी और आगे होगी, भेद नहीं करता—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

ऋ० ॥ मं० १० । सू० १९० । मं० ३ ॥

( धाता ) परमेश्वर जैसे पूर्व कल्प में सूर्य, चन्द्र, विद्युत, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि को बनाता हुआ वैसे ही [ उसने ] अब बनाये हैं और आगे भी वैसे ही बनावेगा। इसलिए परमेश्वर के काम विना भूल चूक के होने से सदा एक से ही हुआ करते हैं। जो अल्पज्ञ और जिसका ज्ञान वृद्धि क्षय को प्राप्त होता है उसी के काम में भूल चूक होती है, ईश्वर के काम में नहीं।

( प्रश्न ) कभी सृष्टि का प्रारम्भ है वा नहीं ?

( उत्तर ) नहीं, जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि अनादि काल से चक्र चला आता है। इसकी आदि वा अन्त नहीं। किन्तु जैसे दिन वा रात या आरम्भ और अन्त देखने में आता है उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि अन्त होता रहता है, क्योंकि जैसे परमात्मा, जीव, जगत् का कारण तीन स्वरूप से अनादि हैं, जैसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और वर्त्तमान प्रवाह से अनादि हैं, जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है कभी सूख जाता, कभी नहीं दीखता फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिये। जैसे परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि हैं वैसे ही उस के जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करना भी अनादि हैं जैसे कभी ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं इसी प्रकार उसके कर्त्तव्य कर्मों का भी आरम्भ और अन्त नहीं।

( प्रश्न ) ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण, गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि कृमि कीट पतङ्गादि जन्म दिये हैं, इससे परमात्मा में पक्षपात आता है।

( उत्तर ) पक्षपात नहीं आता क्योंकि उन जीवों के पूर्व

सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से। जो कर्म के विना जन्म देता तो पक्षपात आता ?

( प्रश्न ) मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई ?

( उत्तर ) त्रिविष्टप अर्थात् जिसको "तिब्बत" कहते हैं।

( प्रश्न ) आदि सृष्टि में एक जाति थी वा अनेक ?

( उत्तर ) एक मनुष्य जाति थी पश्चात् "विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः" [ १ । ५१ । ८ ] यह ऋग्वेद का वचन है। श्रेष्ठों का नाम आर्य्य, विद्वान्, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से आर्य्य और दस्यु दो नाम हुए। "उत शूद्रे उतार्ये" अथर्ववेद वचन। आर्य्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज विद्वानों का नाम आर्य्य और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ।

( प्रश्न ) फिर वे यहां कैसे आये ?

( उत्तर ) जब आर्य्य और दस्युओं में अर्थात् विद्वान् जो देव, अविद्वान् जो असुर, उन में सदा लड़ाई बखेड़ा हुआ किया, जब बहुत उपद्रव होने लगा तब आर्य्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर यहीं आकर बसे इसी से देश का नाम "आर्य्यावर्त्त" हुआ। जो आर्य्यावर्त्त देश से भिन्न देश हैं वे दस्युदेश और म्लेच्छदेश कहाते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आर्य्यावर्त्त से भिन्न पूर्व देश से लेकर ईशान, उत्तर, वायव्य और पश्चिम देशों में

रहने वालों का नाम दस्यु और म्लेच्छ तथा असुर है। और नैर्ऋत्य, दक्षिण तथा आग्नेय दिशाओं में आर्य्यावर्त्त देश से भिन्न में रहने वाले मनुष्यों का नाम राक्षस था। अब भी देख लो हबशी लोगों का स्वरूप भयंकर जैसा राक्षसों का वर्णन किया है वैसा ही दीख पड़ता है। आर्य्यावर्त्त की सूध पर नीचे रहने वालों का नाम नाग और उस देश का नाम पाताल इसलिये कहते हैं कि वह देश आर्य्यावर्त्तीय मनुष्यों के पाद अर्थात् पग के तले है। और उनके नागवंशी अर्थात् नाग नामवाले पुरुष के वश के राजा होते थे। उसी की उलोपी राजकन्या से अर्जुन का विवाह हुआ था। अर्थात् इक्ष्वाकु से लेकर कौरव पांडव तक सर्व भूगोल में आर्यों का राज्य और वेदों का थोड़ा २ प्रचार आर्य्यावर्त्त से भिन्न देशों में भी रहता था। इसमें यह प्रमाण है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु, के मरीच्यादि दश इनके स्वायंभवादि सात राजा और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा जो आर्य्यावर्त्त के प्रथम राजा हुए जिन्होंने यह आर्य्यावर्त्त बसाया है। अब अभाग्योदय से और आर्य्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी किन्तु आर्य्यावर्त्त में भी आर्य्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देश वासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय

राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न २ भाषा, पृथक् २ शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। इसलिये जो कुछ वेदादि शास्त्रों में व्यवस्था वा इतिहास लिखे हैं उसी का मान्य करना भद्रपुरुषों का काम है।

(प्रश्न) जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ?

(उत्तर) एक अर्ब, छानवें क्रोड़, कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पति और वेदों के प्रकाश होने में हुए हैं। इसका स्पष्ट व्याख्यान मेरी बनाई भूमिका * में लिखा है, देख लीजिये।

26 (प्रश्न) इस (पृथिवी) का धारण कौन करता है? कोई कहता है शेष अर्थात् सहस्र फणवाले सर्प के शिर पर पृथिवी है। दूसरा कहता है बैल के सींग पर, तीसरा कहता है किसी पर नहीं, चौथा कहता है कि वायु के आधार, पांचवां कहता है सूर्य के आकर्षण से खैंची हुई अपने ठिकाने पर स्थित, छठा कहता है कि पृथिवी भारी होने से नीचे २ आकाश में चली जाती है। इत्यादि में किस बात को सत्य मानें?

---

* ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के वेदोत्पत्ति विषय को देखो।

(उत्तर) जो शेष, सर्प और बैल के सींग पर धरी हुई पृथिवी स्थित बतलाता है उसको पूछना चाहिये कि सर्प और बैल के मा बाप के जन्म समय किस पर थी। सर्प और बैल आदि किस पर हैं? बैलवाले मुसलमान तो चुप ही कर जायेंगे, परन्तु सर्पवाले कहेंगे कि सर्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर और वायु आकाश में ठहरा है। उनसे पूछना चाहिये कि सब किस पर हैं? तो अवश्य कहेंगे परमेश्वर पर। जब उनसे कोई पूछेगा कि शेष और बैल किस का बच्चा है? कहेंगे कश्यप कद्रू और बैल गाय का। कश्यप मरीची, मरीची मनु, मनु विराट् और विराट् ब्रह्मा का पुत्र, ब्रह्मा आदि सृष्टि का था। जब शेष का जन्म न हुआ था उस के पहिले पांच पीढ़ी हो चुकी हैं तब किसने धारण की थी? अर्थात् कश्यप के जन्म समय में पृथिवी किस पर थी, तो "तेरी चुप मेरी भी चुप" और लड़ने लग जायेंगे। इसका सच्चा अभिप्राय यह है कि जो "बाकी" रहता है उसको शेष कहते हैं। सो किसी कवि ने "शेषाधारा पृथिवीत्युक्तम्" ऐसा कहा कि शेष के आधार पृथिवी है। दूसरे ने उसके अभिप्राय को न समझ कर सर्प की मिथ्या कल्पना करली। परन्तु जिसलिये परमेश्वर उत्पत्ति और प्रलय से बाकी अर्थात् पृथक् रहता है इसीसे उस को "शेष" कहते हैं और उसी के आधार पृथिवी है—

सत्येनोत्तभिता भूमिः ॥ १० । ८५ । १ ॥

यह ऋग्वेद का वचन है। (सत्य) अर्थात् जो त्रैकाल्याबाध्य

जिसका कभी नाश नहीं होता उस परमेश्वर ने भूमि, आदित्य और सब लोकों का धारण किया है ॥

उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्* ॥

यह भी ऋग्वेद का वचन है—इसी (उक्षा) शब्द को देखकर किसी ने बैल का ग्रहण किया होगा क्योंकि उक्षा बैल का भी नाम है। परन्तु उस मूढ़ को यह विदित न हुआ कि इतने बड़े भूगोल के धारण करने का सामर्थ्य बैल में कहां से आवेगा ? इसलिये उक्षा वर्षाद्वारा भूगोल के सेवन करने से सूर्य का नाम है। उसने अपने आकर्षण से पृथिवी को धारण किया है। परन्तु सूर्य्यादि का धारण करने वाला विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं है।

२८ (प्रश्न) पृथिव्यादि लोक घूमते हैं वा स्थिर ?

(उत्तर) घूमते हैं।

(प्रश्न) कितने ही लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता है और पृथिवी नहीं घूमती। दूसरे कहते हैं कि पृथिवी घूमती है सूर्य नहीं घूमता। इसमें सत्य क्या माना जाय ?

(उत्तर) ये दोनों आधे झूठे हैं क्योंकि वेद में लिखा है कि-

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥

यजु० अ० ३। मं० ६ ॥

---

*ऋग्वेद में—'उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्त्ति'। १०। ३१। ८। यह वचन है। अथर्ववेद में—'अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्'॥ ४। ११। १ है ॥

अर्थात् यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है इसलिये भूमि घूमा करती है ॥

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥
यजु० अ० ३३ । मं० ४३ ॥

जो सविता अर्थात् सूर्य वर्षादि का कर्त्ता, प्रकाशस्वरूप, तेजोमय, रमणीयस्वरूप के साथ वर्त्तमान, सब प्राणी, अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरणद्वारा अमृत का प्रवेश करा और सब मूर्तिमान् द्रव्यों को दिखलाता हुआ सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सह वर्त्तमान, अपनी परिधि में घूमता रहता है किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता । वैसे ही एक २ ब्रह्माण्ड में एक सूर्य प्रकाशक और दूसरे सब लोक लोकान्तर प्रकाश्य हैं । जैसे—

दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ अथ० कां० १४ । अनु १ । मं० १ ॥

जैसे यह चन्द्रलोक सूर्य से प्रकाशित होता है वैसे ही पृथिव्यादि लोक भी सूर्य के प्रकाश ही से प्रकाशित होते हैं परन्तु रात और दिन सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं क्योंकि पृथिव्यादि लोक घूम कर जितना भाग सूर्य के सामने आता है उतने में दिन और जितना पृष्ठ में अर्थात् आड़ में होता जाता है उतने में रात । अर्थात् उदय, अस्त, संध्या, मध्याह्न, मध्यरात्रि आदि जितने कालावयव हैं वे देश देशान्तरों में सदा

वर्त्तमान रहते हैं। अर्थात् जब आर्य्यावर्त्त में सूर्योदय होता है उस समय पाताल अर्थात् 'अमेरिका' में अस्त होता है और जब आर्य्यावर्त्त में अस्त होता है तब पाताल देश में उदय होता है। जब आर्य्यावर्त्त में मध्यदिन वा मध्यरात्रि है उसी समय पाताल देश में मध्यरात और मध्यदिन रहता है। जो लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता और पृथिवी नहीं घूमती वे सब अज्ञ हैं क्योंकि जो ऐसा होता तो कई सहस्र वर्ष के दिन और रात होते। अर्थात् सूर्य का नाम (ब्रध्नः) पृथिवी से लाखगुना बड़ा और क्रोड़ों कोश दूर है। जैसे राई के सामने पहाड़ घूमे तो बहुत देर लगती और राई के घूमने में बहुत समय नहीं लगता वैसे पृथिवी के घूमने से यथायोग्य दिन रात होता है, सूर्य के घूमने से नहीं। और जो सूर्य को स्थिर कहते हैं वे भी ज्योतिर्विद्यावित् नहीं। क्योंकि यदि सूर्य न घूमता होता तो एक राशि स्थान से दूसरी राशि अर्थात् स्थान को प्राप्त न होता। और गुरु पदार्थ विना घूमे अकाश में नियत स्थान पर कभी नहीं रह सकता। और जो जैनी कहते हैं कि पृथिवी घूमती नहीं किन्तु नीचे चली जाती है और दो सूर्य और दो चन्द्र केवल जंबूद्वीप में बतलाते हैं वे तो गहरी भांग के नशे में निमग्न हैं, क्यों? जो नीचे २ चली जाती तो चारों ओर वायु के चक्र न बनने से पृथिवी छिन्न भिन्न होती और निम्नस्थलों में रहने वालों को वायु का स्पर्श न होता, नीचे वालों को अधिक होता और एकसी वायु की गति होती, दो सूर्य्य चन्द्र होते तो रात और कृष्णपक्ष का होना ही नष्ट भ्रष्ट

होता । इसलिये एक भूमि के पास एक चन्द्र और अनेक भूमियों के मध्य में एक सूर्य रहता है ।

( प्रश्न ) सूर्य चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है वा नहीं ?

( उत्तर ) ये सब भूगोल लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती हैं क्योंकि—

एतेषु हीदꣳसर्वं वसु हितमेते हीदꣳसर्वं वासयन्ते तद्य-दिदꣳसर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥

शत० कां० १४। [प्र० ६। ब्रा० ७। कं० ४]

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इनका वसु नाम इसलिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा बसती हैं और ये ही सबको बसाते हैं। जिसलिये वास के, निवास करने के घर हैं इसलिये इनका नाम वसु है। जब पृथिवी के समान सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं पश्चात् उनमें इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह ? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तो क्या यह सब लोक शून्य होंगे ? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफल कभी हो सकता है ? इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है ।

---

# अथ नवमसमुल्लासारम्भः

## अथ विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषयान् व्याख्यास्यामः

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
यजु ॥ अ० ४० । मं० १४ ॥

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।

अविद्या का लक्षण—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥
[ पातं० द० साधनपादे सू० ५ ]

यह योगसूत्र का वचन है।

जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य, अर्थात् जो कार्य्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योग बल से यही देवों का शरीर सदा रहता है वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अशुचि अर्थात् मलमय

स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्र बुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषयसेवनरूप दुःख में सुख-बुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है। इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख में सुख अनात्मामें अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है। अर्थात् "वेत्ति यथावत्तत्त्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति, भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया साऽविद्या" जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह 'विद्या' और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह 'अविद्या' कहाती है। अर्थात् कर्म और उपासना अविद्या इसलिये है कि यह बाह्य और अन्तर क्रियाविशेष है ज्ञानविशेष नहीं। इसी से मंत्र में कहा है कि विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्युदुःख से पार कोई नहीं होता। अर्थात् पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म, उपासना और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिये धर्मयुक्त सत्यभाषणादि कर्म करना और मिथ्याभाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।

(प्रश्न) मुक्ति किसको प्राप्त नहीं होती?

( उत्तर ) जो बद्ध है।

( प्रश्न ) बद्ध कौन है ?

( उत्तर ) जो अधर्म अज्ञान में फँसा हुआ जीव है।

(प्रश्न) बन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है वा निमित्त से ?

( उत्तर ) निमित्त से, क्योंकि जो स्वभाव से होता तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती।

## अब मुक्ति बन्ध का वर्णन करते हैं ॥

( प्रश्न ) मुक्ति किसको कहते हैं ?

( उत्तर ) 'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः' जिसमें छूट जाना हो उसका नाम मुक्ति है।

( प्रश्न ) किससे छूट जाना ?

( उत्तर ) जिससे छूटने की इच्छा सब जीव करते हैं।

( प्रश्न ) किससे छूटने की इच्छा करते हैं ?

( उत्तर ) जिससे छूटना चाहते हैं।

( प्रश्न ) किससे छूटना चाहते हैं ?

( उत्तर ) दुःख से।

( प्रश्न ) छूट कर किसको प्राप्त होते और कहां रहते हैं ?

( उत्तर ) सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।

( प्रश्न ) मुक्ति और बन्ध किन २ बातों से होता है ?

( उत्तर ) परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसङ्ग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्यायधर्म की वृद्धि करने,

पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने, पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों का करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार ही करे इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञाभङ्ग करने आदि काम से बन्ध होता है।

(प्रश्न) मुक्ति में जीव का लय होता है वा विद्यमान रहता है?

(उत्तर) विद्यमान रहता है।

(प्रश्न) कहां रहता है?

(उत्तर) ब्रह्म में।

(प्रश्न) ब्रह्म कहां है और वह मुक्त जीव एक ठिकाने रहता है वा स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है?

(उत्तर) जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है उसी में मुक्त जीव अव्याहतगति अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं, विज्ञान आनन्द पूर्वक स्वतन्त्र विचरता है।

(प्रश्न) मुक्त जीव का स्थूल शरीर होता है वा नहीं?

(उत्तर) नहीं रहता।

(प्रश्न) फिर वह सुख और आनन्दभोग कैसे करता है?

(उत्तर) उसके सत्य सङ्कल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिकसङ्ग नहीं रहता, जैसेः—

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षु-

र्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयँश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारो भवति ॥ शतपथ कां० १४ ॥

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिये घ्राण, संकल्प विकल्प करने समय मन, निश्चय करने के लिये बुद्धि, स्मरण करने के लिये चित्त और अहंकार के अर्थ अहङ्कार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और सङ्कल्पमात्र शरीर होता है जैसे शरीर के आधार रह कर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।

( प्रश्न ) उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है ?

( उत्तर ) मुख्य एक प्रकार की शक्ति है परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन २४ ( चौबीस ) प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव हैं। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है। जो मुक्ति में जीव का लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगता ? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं वे महामूढ़ हैं क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि

दुःखों से छूट कर आनन्दस्वरूप सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना।

(प्रश्न) जीव मुक्ति को प्राप्त होकर पुनः जन्म मरणरूप दुःख में कभी आते हैं वा नहीं? क्योंकि—

न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते इति ॥

उपनिषद्वचनम् [ छां॰ प्र॰ ८। खं॰ १५ ]

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥

शारीरिक सूत्र [ ४। ४। ३३ ]

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ भगवद्गीता ॥

इत्यादि वचनों से विदित होता है कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में कभी नहीं आता।

(उत्तर) यह बात ठीक नहीं क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है—

कस्य॑ नू॒नं क॑त॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑।
को नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात् पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥१॥
अ॒ग्नेर्व॒यं प्र॑थ॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑।
स नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात् पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥२॥

ऋ॰ ॥ मं॰ १ । सू॰ २४ । मं॰ १, २॥

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥३॥ सांख्यसूत्र १।१५६॥

(प्रश्न) हम लोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाश-

रहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव, सदा प्रकाशस्वरूप है, हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है ? ॥ १ ॥

(उत्तर) हम इस स्वप्रकाशस्वरूप, अनादि, सदामुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगा कर पृथिवी में पुनः माता पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है । वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सब का स्वामी है ॥ २ ॥ जैसे इस समय बन्ध-मुक्त जीव हैं वैसे ही सर्वदा रहते हैं, अत्यन्त विच्छेद बन्ध मुक्ति का कभी नहीं होता किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती ॥ ३ ॥

(प्रश्न) तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।*

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ न्यायसूत्र [ १ । १ । २ ]

जो दुःख का अत्यन्त विच्छेद होता है वही मुक्ति कहाती है क्योंकि जब मिथ्याज्ञान, अविद्या, लोभादि दोष, विषय, दुष्ट व्यसनों में प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का उत्तर २ के छूटने से पूर्व २ के निवृत्त होने ही से मोक्ष होता है जो कि सदा बना रहता है ।

(उत्तर) यह आवश्यक नहीं है कि अत्यन्त शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे । जैसे 'अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं

* न्यायसूत्र अध्याय १ । आन्हिक १ । सूत्र २२ ॥

चास्य वर्त्तते' बहुत दुःख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत सुख वा दुःख है। इसी प्रकार यहां भी अत्यन्त शब्द का अर्थ जानना चाहिये।

(प्रश्न) मुक्ति के क्या साधन हैं?

(उत्तर) कुछ साधन तो प्रथम लिख आये हैं, परन्तु विशेष उपाय ये हैं। जो मुक्ति चाहे वह जीवन मुक्त अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पाप कर्मों का फल दुःख है उनको छोड़ सुख-रूप फल को देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे। जो कोई दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहे वह अधर्म को छोड़ धर्म अवश्य करे। क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूलकारण है।

सत्पुरुषों के संग से 'विवेक' अर्थात् सत्याऽसत्य, धर्मा-धर्म, कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करें, पृथक् २ जानें और शरीर अर्थात् जीव पंच कोशों का विवेचन करें। एक 'अन्नमय' जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। दूसरा 'प्राणमय' जिसमें 'प्राण' अर्थात् जो भीतर से बाहर जाता, 'अपान' जो बाहर से भीतर आता, 'समान' जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुंचाता, 'उदान' जिससे कंठस्थ अन्न पान खैंचा जाता और बल-पराक्रम होता है 'व्यान' जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है। तीसरा 'मनोमय' जिसमें मन के साथ अहङ्कार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पांच कर्म इन्द्रियां हैं। चौथा 'विज्ञानमय' जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा

और नासिका ये पांच ज्ञान इन्द्रियां जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है। पांचवां 'आनन्दमय कोश' जिसमें प्रीति प्रसन्नता न्यून आनन्द, अधिकानन्द, आनन्द और आधार कारणरूप प्रकृति है। ये पांच कोश कहाते हैं इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है। तीन अवस्था, एक 'जागृत' दूसरी 'स्वप्न' और तीसरी 'सुषुप्ति' अवस्था कहाती है। तीन शरीर हैं, एक 'स्थूल' जो यह दीखता है। दूसरा पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्वों का समुदाय 'सूक्ष्म शरीर' कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्मभूतों के अंशों से बना है। दूसरा स्वाभाविक, जो जीव के स्वाभाविक गुण रूप हैं यह दूसरा और भौतिक शरीर * मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। तीसरा कारण जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिये एक है। चौथा 'तुरीय' शरीर वह कहाता है जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते हैं इसी समाधि संस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है इन सब कोश-अवस्थाओं से जीव पृथक् है। क्योंकि यह सब को विदित है कि अवस्थाओं से जीव पृथक् है क्योंकि जब मृत्यु

---

* यह दूशरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है।

होता है तब सब कोई कहते हैं कि जीव निकल गया यही जीव सब का प्रेरक, सबका धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता, भोक्ता कहाता है। जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता भोक्ता नहीं तो उसको जानो कि वह अज्ञानी, अविवेकी है, क्योंकि विना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुःख का भोग व पाप-पुण्य-कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता। हां, इनके सम्बन्ध से जीव पाप पुण्यों का कर्त्ता और सुख दुःखों का भोक्ता है। जब इन्द्रियां अर्थों में, मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ सयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है तभी वह बहिर्मुख होजाता है उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कर्मों में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है। वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है वही मुक्तिजन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

दूसरा साधन 'वैराग्य' अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जाना हो उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना विवेक* है। जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञापालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना सृष्टि से उपकार लेना विवेक* कहाता है।

तत्पश्चात् तीसरा साधन 'षट्क-सम्पत्ति' अर्थात् छः प्रकार के कर्म करना एक 'शम' जिससे अपने आत्मा और अन्तःकरण

* वैराग्य ( सं )

को अधर्माचरण से हटा कर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना, दूसरा 'दम' जिससे श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना, तीसरा 'उपरति' जिससे दुष्ट कर्म करने वाले पुरुषों से सदा दूर रहना, चौथा 'तितिक्षा' चाहे निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ कितना ही क्यों न हो परन्तु हर्ष शोक को छोड़ मुक्तिसाधनों में सदा लगे रहना, पांचवां 'श्रद्धा' जो वेदादि सत्य शास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना, छठा 'समाधान' चित्त की एकाग्रता, ये छः मिलकर एक 'साधन' तीसरा कहाता है।

चौथा "मुमुक्षुत्व" अर्थात् जैसे क्षुधा तृषातुर को सिवाय अन्न जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता वैसे विना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होना। ये चार साधन, और चार 'अनुबन्ध' अर्थात् साधनों के पश्चात् ये कर्म करने होते हैं। इनमें से जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है वही मोक्ष का 'अधिकारी' होता है। दूसरा "सम्बन्ध" ब्रह्म की प्राप्तिरूप मुक्ति प्रतिपाद्य और वेदादि शास्त्र प्रतिपादक को यथावत् समझ कर अन्वित करना, तीसरा "विषयी" सब शास्त्रों का प्रतिपादन विषय ब्रह्म उसकी प्राप्तिरूप विषय वाले पुरुष का नाम विषयी है, चौथा "प्रयोजन" सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्ति सुख का होना ये चार 'अनुबन्ध' कहाते हैं।

तदनन्तर "श्रवण-चतुष्टय" एक "श्रवण" जब कोई विद्वान्

उपदेश करे तब शान्त, ध्यान देकर सुनना, विशेष ब्रह्मविद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये कि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है, सुनकर दूसरा "मनन" एकान्त देश में बैठ के सुने हुए का विचार करना, जिस बात में शंका हो पुनः पूछना और सुनने समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझें तो पूछना और समाधान करना, तीसरा "निदिध्यासन" जब सुनने और मनन करने से निस्सन्देह होजाय तब समाधिस्थ होकर उस बात को देखना समझना कि वह जैसा सुना था, विचारा था वैसा ही है वा नहीं, ध्यान योग से देखना, चौथा "साक्षात्कार" अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप गुण और स्वभाव हो वैसा याथातथ्य जान लेना 'श्रवण चतुष्टय' कहाता है। सदा तमोगुण अर्थात् क्रोध, मलीनता, आलस्य, प्रमाद आदि रजोगुण अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेप आदि दोषों से अलग होके सत्य अर्थात् शान्त प्रकृति, पवित्रता, विद्या, विचार आदि गुणों को धारण करे। (मैत्री) सुखी जनों में मित्रता, (करुणा) दुखी जनों पर दया, (मुदिता) पुण्यात्माओं से हर्षित होना, (उपेक्षा) दुष्टात्माओं में न प्रीति और न वैर करना। नित्यप्रति न्यून से न्यून दो घंटा पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों। देखो! अपने चेतनस्वरूप हैं, इसीसे ज्ञानस्वरूप और मन के साक्षी हैं। क्योंकि जब मन शान्त, चंचल, आनन्दित वा विषादयुक्त होता है उसको यथावत् देखते हैं, वैसे ही इन्द्रियां प्राण आदि का ज्ञाता पूर्वदृष्ट का स्मरणकर्त्ता और एक काल में

अनेक पदार्थों के वेत्ता धारणाकर्षणकर्त्ता और सब से पृथक् हैं। जो पृथक् न होते तो स्वतन्त्र कर्त्ता इनके प्रेरक अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥

योगशास्त्रे पादे २। सू० ३॥

इनमें से अविद्या का स्वरूप कह आये। पृथक् वर्त्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना 'अस्मिता', सुख में प्रीति 'राग', दुःख में अप्रीति 'द्वेष' और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है कि मैं सदा शरीरस्थ रहूं, मरूं नहीं, मृत्यु दुःख से त्रास 'अभिनिवेश' कहाता है। इन पांच क्लेशों को योगाभ्यास विज्ञान से छुड़ा के ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिये।

( प्रश्न ) जन्म एक है वा अनेक ?

( उत्तर ) अनेक।

( प्रश्न ) जो अनेक हों तो पूर्व जन्म और मृत्यु की बातों का स्मरण क्यों नहीं ?

(उत्तर) जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं इसलिये स्मरण नहीं रहता। और जिस मन से ज्ञान करता है वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला पूर्व जन्म की बात तो दूर रहने दीजिये, इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पांचवें वर्ष से पूर्व तक जो २ बातें हुई हैं उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और जागृत वा स्वप्न में बहुत सा व्यवहार प्रत्यक्ष में करके जब सुषुप्ति अर्थात् गाढ़-

निद्रा होती है तब जागृत आदि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और तुम से कोई पूछे कि बारह वर्ष के पूर्व तेरहवें वर्ष के पांचवें महीने के नववें दिन दश बजे पर पहिली मिन्ट में तुमने क्या किया था ? तुम्हारा मुख, हाथ, कान, नेत्र, शरीर किस ओर, किस प्रकार का था ? और मन में क्या विचारा था ? जब इसी शरीर में ऐसा है तो पूर्व जन्म की बातों के स्मरण में शंका करना केवल लड़कपन की बात है और जो स्मरण नहीं होता है इसी से जीव सुखी है नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख २ दुःखित होकर मर जाता। जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्त्तमान को जानना चाहे तो भी नहीं जान सकता क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं।

(प्रश्न) एक जन्म होने से भी परमेश्वर न्यायकारी हो सकता है। जैसे सर्वोपरि राजा जो बात करे सो न्याय। जैसे माली अपने उपवन में छोटे और बड़े वृक्ष लगाता किसी को काटता उखाड़ता और किसी की रक्षा करता बढ़ाता है। जिसकी जो वस्तु है उसको वह चाहे जैसे रक्खे उसके ऊपर कोई भी दूसरा न्याय करनेवाला नहीं जो उसको दण्ड दे सके वा ईश्वर किसी से डरे।

(उत्तर) परमात्मा जिसलिये न्याय चाहता करता अन्याय कभी नहीं करता इसलिये वह पूजनीय और बड़ा है। जो न्याय-विरुद्ध करे वह ईश्वर ही नहीं। जैसे माली युक्ति के विना मार्ग वा अस्थान में वृक्ष लगाने, न काटने योग्य को काटने, अयोग्य

को बढ़ाने, योग्य को न बढ़ाने से दूषित होता है इसी प्रकार विना कारण के करने से ईश्वर को दोष लगे। परमेश्वर के ऊपर न्याययुक्त काम करना अवश्य है क्योंकि वह स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है। जो उन्मत्त के समान काम करे तो जगत् के श्रेष्ठ न्यायाधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठित होवे। क्या इस जगत् में विना योग्यता के उत्तम काम किये प्रतिष्ठा और दुष्ट काम किये विना दण्ड देनेवाला निन्दनीय अप्रतिष्ठित नहीं होता ? इसलिये ईश्वर अन्याय नहीं करता इसीसे किसी से नहीं डरता।

(प्रश्न) परमात्मा ने प्रथम ही से जिसके लिये जितना देना विचारा है उतना देता और जितना काम करना है उतना करता है।

(उत्तर) उसका विचार जीवों के कर्मानुसार होता है, अन्यथा नहीं। जो अन्यथा हो तो वही अपराधी अन्यायकारी होवे।

(प्रश्न) बड़े छोटों को एकसा ही सुख दुःख है बड़ों को बड़ी चिन्ता और छोटों को छोटी—जैसे किसी साहूकार का विवाद राजघर में लाख रुपये का हो तो वह अपने घर से पालकी में बैठकर कचहरी में उष्णकाल में जाता हो। बाज़ार में होके उसको जाता देखकर अज्ञानी लोग कहते हैं कि देखो पुण्य पाप का फल, एक पालकी में आनन्दपूर्वक बैठा है और दूसरे विना जूते पहिरे ऊपर नीचे से तप्यमान होते हुये पालकी को उठाकर ले जाते हैं परन्तु बुद्धिमान् लोग इसमें यह जानते

हैं कि जैसे २ कचहरी निकट आती जाती है वैसे २ साहूकार को बड़ा शोक और सन्देह बढ़ता जाता और कहारों को आनन्द होता जाता है । जब कचहरी में पहुंचते हैं तब सेठ जी इधर उधर जाने का विचार करते हैं कि प्राड्विवाक् ( वकील ) के पास जाऊं वा सरिश्तेदार के पास, आज हारूंगा वा जीतूंगा, न जाने क्या होगा और कहार लोग तमाखू पीते, परस्पर बातें चीतें करते हुए प्रसन्न होकर आनन्द में सो जाते हैं । जो वह जीत जाय तो कुछ सुख और हारजाय तो सेठजी दुःखसागर में डूब जायं और वे कहार जैसे के वैसे रहते हैं इसी प्रकार जब राजा सुन्दर कोमल बिछौने में सोता है तो भी शीघ्र निद्रा नहीं आती और मजूर कंकर पत्थर और मिट्टी ऊंचे नीचे स्थल पर सोता है उसको झट ही निद्रा आती है ऐसे ही सर्वत्र समझो ।

( उत्तर ) यह समझ अज्ञानियों की है । क्या किसी साहूकार से कहें कि तू कहार बनजा और कहार से कहें कि तू साहूकार बनजा तो साहूकार कभी कहार बनना नहीं और कहार साहूकार बनना चाहते हैं । जो सुख दुःख बराबर होता तो अपनी २ अवस्था छोड़ नीच और ऊंच बनना दोनों न चाहते । देखो एक जीव विद्वान्, पुण्यात्मा, श्रीमान् राजा की राणी के गर्भ में आता और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में आता है । एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है । एक जब जन्मता है तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नाड़ीछेदन, दुग्धपानादि

यथायोग्य प्राप्त होते हैं। जब वह दूध पीना चाहता है तो उस के साथ मिश्री आदि मिलाकर यथेष्ट मिलता है। उसको प्रसन्न रखने के लिये नौकर चाकर खिलौना सवारी, उत्तम स्थानों में लाड़ से आनन्द होता है। दूसरे का जन्म जङ्गल में होता स्नान के लिये जल भी नहीं मिलता जब दूध पीना चाहता तब दूध के बदले में घूंसा थपेड़ा आदि से पीटा जाता है, अत्यन्त आर्तस्वर से रोता है, कोई नही पूंछता, इत्यादि जीवों को विना पुण्य पाप के सुख दुःख होने से परमेश्वर पर दोष आता है। दूसरा जैसे विना किये कर्मों के सुख दुःख मिलते हैं तो आगे नरक स्वर्ग भी न होना चाहिये क्योंकि जैसे परमेश्वर ने इस समय विना कर्मों के सुख दुःख दिया है वैसे मरे पीछे भी जिसको चाहेगा उसको स्वर्ग में और जिसको चाहे नरक में भेज देगा, पुनः सब जीव अधर्मयुक्त हो जावेंगे, धर्म क्यों करें? क्योंकि धर्म का फल मिलने में सन्देह है, परमेश्वर के हाथ है, जैसी उसकी प्रसन्नता होगी वैसा करेगा तो पापकर्मों में भय न होकर संसार में पाप की वृद्धि और धर्म का क्षय हो जायेगा। इसलिये पूर्व जन्म के पुण्य पाप के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।

(प्रश्न) मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एक सा है वा भिन्न भिन्न जाति के?

(उत्तर) जीव एक से हैं परन्तु पाप पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं।

( प्रश्न ) मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता आता है वा नहीं ?

( उत्तर ) हां जाता आता है, क्योंकि जब पाप बढ़ जाता पुण्य न्यून होता है तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता और जब पुण्य पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्य-जन्म होता है। इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म मरण में तबतक जीव पड़ा रहता है कि जबतक उत्तम कर्मोपासना ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता, क्योंकि उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्प पर्यन्त जन्म मरण दुःखों से रहित होकर आनन्द में रहता है।

( प्रश्न ) मुक्ति एक जन्म में होती है वा अनेक जन्मों में ?

( उत्तर ) अनेक जन्मों में, क्योंकि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽवरे ॥

मुण्डक [ मु० २ । खं० २ । मं० ८ ]

जब इस जीव के हृदय की अविद्या अज्ञानरूपी गांठ कट जाती, सब संशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं तभी उस परमात्मा जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उसमें निवास करता है।

---

# अथ दशमसमुल्लासारम्भः

## अथाऽऽचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषयान् व्याख्यास्यामः

अब जो धर्मयुक्त कामों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का संग और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि आचार और इनसे विपरीत अनाचार कहाता है उसको लिखते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ १ ॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ५ ॥

सर्वन्तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ६ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ७ ॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ८ ॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ ९ ॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १० ॥

मनु० अ० २ । [ श्लो० १-४, ६, ८, ९, ११-१३]

मनुष्यों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि जिसका सेवन रागद्वेषरहित विद्वान् लोग नित्य करें जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य कर्त्तव्य जानें वही धर्म माननीय और करणीय है ॥१॥ क्योंकि इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है, वेदार्थ ज्ञान और वेदोक्त कर्म ये सब कामना ही से सिद्ध होते हैं ॥ २ ॥ जो कोई कहे कि मैं निरिच्छ और निष्काम हूं वा होजाऊं तो वह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सब काम अर्थात् यज्ञ, सत्यभाषणादि व्रत, यम, नियम रूपी धर्म आदि संकल्प ही से बनते हैं ॥३॥ क्योंकि जो जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं वे सब कामना ही से चलते हैं जो इच्छा न हो तो आंख का खोलना और मीचना भी नहीं हो सकता ॥ ४ ॥ इसलिये सम्पूर्ण वेद मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस २ कर्म में

अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शंका, लज्जा जिनमें न हो उन कर्मों का सेवन करना उचित है, देखो ! जब कोई मिथ्या भाषण चोरी आदि की इच्छा करता है तभी उसके आत्मा में भय, शंका, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है इसलिये वह कर्म करने योग्य नहीं ॥ ५ ॥ मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध अच्छे प्रकार विचार कर ज्ञाननेत्र करके श्रुति-प्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे ॥ ६ ॥ क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है वह इस लोक में कीर्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥ श्रुति वेद और स्मृति धर्मशास्त्र को कहते हैं, इनसे सब कर्त्तव्याऽ-कर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये। जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्तग्रन्थों का अपमान करे उसको श्रेष्ठ लोग जाति-बाह्य करदें क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है वही नास्तिक कहाता है ॥ ८ ॥ इसलिये वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का अचार और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है ॥ ९ ॥ परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात् विषयसेवा में फँसा हुआ नहीं होता उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें उनके लिये वेद ही परम प्रमाण है ॥ १० ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ १ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ २ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ ३ ॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ४ ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ ५ ॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ७ ॥
वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ ८ ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ ९ ॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १० ॥
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ ११ ॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवा स्थविरं विदुः ॥ १२ ॥

मनु० अ० २ । [ श्लो० ८८,९३,९४,९७,१००,९८, ११०, १३६, १५३–१५६ ]

मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियां चित्त को हरण करने वाले विषयों में प्रवृत कराती हैं उनको रोकने में प्रयत्न करे। जैसे घोड़े को सारथी रोक कर शुद्ध मार्ग में चलाता है। इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्ममार्ग से हटा के धर्ममार्ग में सदा चलाया करे ॥ १ ॥ क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चिल दोष को प्राप्त होता है और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ २ ॥ यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से बढ़ता जाता है वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है, इसलिये मनुष्य को विषयासक्त कभी न होना चाहिये ॥ ३ ॥ जो अजितेन्द्रिय पुरुष है उसको विप्रदुष्ट कहते हैं उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को सिद्ध होते हैं ॥ ४ ॥ इसलिये पांच कर्म [ इन्द्रिय ] पांच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को अपने वश में करके युक्ताहार-विहार योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे ॥ ५ ॥ जितेन्द्रिय उसको कहते हैं कि जो स्तुति सुन के हर्ष और निन्दा सुनके शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्ट रूप देख के अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं

करता ॥ ६ ॥ कभी विना पूछे वा अन्याय से पूछने वाले को कि जो कपट से पूछता हो उसको उत्तर न देवे उनके सामने बुद्धिमान् जड़ के समान रहे, हां जो निष्कपट और जिज्ञासु हों उनको विना पूछे भी उपदेश करे ॥ ७ ॥ एक धन, दूसरे बन्धु, कुटुम्ब, कुल, तीसरी अवस्था, चौथा उत्तम कर्म और पांचवीं श्रेष्ठ विद्या ये पांच मान्य के स्थान हैं परन्तु धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक अवस्था, अवस्था से श्रेष्ठ कर्म और कर्म से पवित्र विद्यावाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं ॥ ८ ॥ क्योंकि चाहे सौ वर्ष का हो परन्तु जो विद्या विज्ञान रहित है वह बालक और जो विद्या विज्ञान का दाता है उस बालक को भी वृद्ध मानना चाहिये क्योंकि सब शास्त्र, आप्त, विद्वान् अज्ञानी को बालक और ज्ञानी को पिता कहते हैं ॥ ९ ॥ अधिक वर्षों के बीतने, श्वेत बाल के होने, अधिक धन से और बड़े कुटुम्ब के होने से वृद्ध नहीं होता किन्तु ऋषि महात्माओं का यही निश्चय है कि जो हमारे बीच में विद्या-विज्ञान में अधिक है वही वृद्ध पुरुष कहाता है ॥ १० ॥ ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धनधान्य से और शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध होता है ॥११॥ शिर के बाल श्वेत होने से बुड्ढा नहीं होता किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुआ है उसी को विद्वान् लोग बड़ा जानते हैं ॥ १२ ॥ नित्य स्नान, वस्त्र, अन्न, पान, स्थान सब शुद्ध रक्खे क्योंकि इनके शुद्ध होने में चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर पुरुषार्थ बढ़ता है शौच उतना करना योग्य है कि जितने से मल दुर्गन्ध दूर होजाये ॥

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ॥ मनु०[१।१०८]

जो सत्यभाषणादि कर्मों का आचरण करना है वही वेद और स्मृति में कहा हुआ आचार है।

मा नो वधीः पितरं मोत मातरम् ॥ [यजु० १६ । १५ ]
आचार्य्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते॥*[अथ०का०११।व१५]
मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्य्यदेवो भव । अतिथि-देवो भव ॥ [ तैत्तिरियारण्यके ॥ प्र० ७ । अनु० ११ ]

माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि की सेवा करना देव-पूजा कहाती हैं और जिस २ कर्म से जगत् का उपकार हो वह २ कर्म करना और हानिकारक छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। कभी नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी, छली, आदि दुष्ट मनुष्यों का सङ्ग न करे। आप्त जो सत्यवादी, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय जन हैं उनका सदा सङ्ग करने ही का नाम श्रेष्ठाचार है।

(प्रश्न) आर्यावर्त्त देशवासियों का आर्यावर्त्त देश से भिन्न २ देशों में जाने से आचार नष्ट हो जाता है वा नहीं ? ( उत्तर ) यह बात मिथ्या है क्योंकि जो बाहर भीतर की पवित्रता करनी सत्यभाषणादि आचरण करना है वह जहां कहीं करेगा आचार और धर्मभ्रष्ट कभी न होगा और जो आर्य्यावर्त्त में रहकर भी दुष्टाचार करेगा वही धर्म और आचार भ्रष्ट कहावेगा जो ऐसा ही होता तो—

मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः ।

* अथर्व का० ११ सू० ५ । मं० ३, १७ ॥

क्रमेणैव व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत् ॥
स देशान् विविधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान् ॥ [अ० ३२७]

यह श्लोक महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म में व्यास-शुक-संवाद में हैं—अर्थात् एक समय व्यास जी अपने पुत्र शुक और शिष्य सहित पाताल अर्थात् जिसको इस समय 'अमेरिका' कहते हैं उसमें निवास करते थे। शुक्राचार्य्य ने पिता से एक प्रश्न पूछा कि आत्मविद्या इतनी ही है वा अधिक ? व्यासजी ने जानकर उस बात का प्रत्युत्तर न दिया क्योंकि उस बात का उपदेश कर चुके थे। दूसरे की साक्षी के लिये अपने पुत्र शुक से कहा कि हे पुत्र! तू मिथिलापुरी में जाकर यही प्रश्न जनक राजा से कर, वह इसका यथायोग्य उत्तर देगा। पिता का वचन सुनकर शुक्राचार्य्य पाताल से मिथिलापुरी की ओर चले। प्रथम मेरु अर्थात् हिमालय से ईशान, उत्तर और वायव्य [ कोण ] में जो देश बसते हैं उनका नाम हरिवर्ष था अर्थात् हरि कहते हैं बन्दर को। उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख अर्थात् वानर के समान भूरे नेत्रवाले होते हैं। जिन देशों का नाम इस समय 'यूरोप' है उन्हीं को संस्कृत में 'हरिवर्ष' कहते थे, उन देशों को देखते हुए और जिनको हूण, 'यहूदी' भी कहते हैं उन देशों को देख कर चीन में आये, चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी को आये। और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पाताल में अश्वतरी अर्थात् जिसको अग्नियान-नौका कहते हैं उस पर बैठ के पाताल में जाके, महाराजा युधिष्ठिर के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को ले आये थे। धृतराष्ट्र का विवाह गांधार जिसको 'कंधार' कहते हैं वहां की राजपुत्री से हुआ। माद्री पाण्डु की स्त्री

'ईरान' के राजा की कन्या थी। और अर्जुन का विवाह पाताल में जिसको 'अमेरिका' कहते हैं वहां के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था। जो देशदेशान्तर, द्वीपद्वीपान्तर में न जाते होते तो ये सब बातें क्योंकर हो सकतीं? मनुस्मृति में जो समुद्र में जानेवाली नौका पर कर लेना लिखा है वह भी आर्य्यावर्त्त से द्वीपान्तर में जाने के कारण है। और जब राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था उस में सब भूगोल के राजाओं को बुलाने को निमन्त्रण देने के लिये भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गये थे। जो दोष मानते होते तो कभी न जाते। सो प्रथम आर्य्यावर्त्तदेशीय लोग व्यापार, राजकार्य्य और भ्रमण के लिये सब भूगोल में घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शंका है वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है। जो मनुष्य देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर में जाने आने में शंका नहीं करते वे देशदेशान्तर के अनेक विध मनुष्यों के समागम, रीति-भांति देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय, शूरवीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण, बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। भला जो महाभ्रष्ट, म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचारभ्रष्ट धर्महीन नहीं होते किन्तु देशदेशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं!!! यह केवल मूर्खता की बात नहीं तो क्या है? हां इतना कारण तो है कि जो लोग मांस भक्षण और मद्यपान करते हैं उनके शरीर और वीर्य्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं इसलिये उनके सङ्ग करने से आर्य्यों

को भी यह कुलक्षण न लग जायें यह तो ठीक है। परन्तु जब इनसे व्यवहार और गुणग्रहण करने में कोई भी दोष वा पाप नहीं है, किन्तु उनके मद्यपानादि दोषों को छोड़ गुणों को ग्रहण करें तो कुछ भी हानि नहीं। जब इनके स्पर्श और देखने से भी मूर्ख जन पाप गिनते हैं इसीसे उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते क्योंकि युद्ध में उनको देखना और स्पर्श होना अवश्य है। सज्जन लोगों को राग द्वेष, अन्याय, मिथ्याभाषणादि दोषों को छोड़ निर्वैर प्रीति, परोपकार सज्जनतादि का धारण करना उत्तम आचार है। और यह भी समझलें कि धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं तो हमको देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं। हां इतना अवश्य चाहिये कि वेदोक्त धर्म का निश्चय और पाखण्डमत का खण्डन करना अवश्य सीखलें जिससे कोई हमको झूठा निश्चय न करा सके।

क्या विना देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर में राज्य या व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें तो विना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता। पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम इनको विद्या पढ़ावेंगे और देशदेशान्तर में जाने की आज्ञा देवेंगे तो ये बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड जाल में न फँसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जावेगी इसीलिये भोजन छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न

जासकें। हां इतना अवश्य चाहिये कि मद्यमांस का ग्रहण कदापि भूलकर भी न करें। क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि जो राजपुरुषों में युद्ध समय में भी चौका लगाकर रसोई बना के खाना अवश्य पराजय का हेतु है? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े हाथी रथ पर चढ़ या पैदल होके मारते जाना अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है। इसी मूढता से इन लोगों ने चौका लगाते २ विरोध करते कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पका कर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्य्यावर्त्त देश भर में चौका लगा के सर्वथा नष्ट कर दिया है। हां! जहां भोजन करें उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाड़ू लगाने, कूरा कर्कट दूर करने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिये न कि मुसलमान वा ईसाइयों के समान भ्रष्ट पाकशाला करना।

(प्रश्न) सखरी निखरी क्या है? (उत्तर) सखरी जो जल आदि में अन्न पकाये जाते और जो घी दूध में पकाते हैं वह निखरी अर्थात् चोखी। यह भी इन धूर्त्तों का चलाया हुआ पाखण्ड है क्योंकि जिसमें घी दूध अधिक लगे उसको खाने में स्वाद और उदर में चिकना पदार्थ अधिक जावे इसीलिये यह प्रपञ्च रचा है नहीं तो जो अग्नि वा काल से पका हुआ पदार्थ पक्का और न पका हुआ कच्चा है। जो पक्का खाना और कच्चा न खाना है यह भी सर्वत्र ठीक नहीं क्योंकि चणे आदि कच्चे भी खाये जाते हैं।

जबतक एक मत एक हानि लाभ, एक सुख दुःख परस्पर न मानें तबतक उन्नति होना बहुत कठिन है। परन्तु केवल खाना पीना ही एक एक होने से सुधार नहीं हो सकता किन्तु जब तक बुरी बातें नहीं छोड़ते और अच्छी बातें नहीं करते तब तक बढ़ती के बदले हानि होती है। विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेद-विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें जो पांच सहस्र वर्ष के पहिले हुई थीं उनको भी भूल गये। देखो! महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते पीते थे, आपस की फूट से कौरव पांडव और यादवों का सत्यानाश होगया सो तो होगया परन्तु अबतक भी वही रोग पीछे लगा है, न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख-सागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र हत्यारे, स्वदेश-विनाशक, नीच के दुष्टमार्ग में आर्य लोग अबतक भी चल कर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय। भक्ष्याभक्ष्य दो प्रकार का होता है एक धर्मशास्त्रोक्त, दूसरा वैद्यक शास्त्रोक्त, जैसे धर्मशास्त्र में—

अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ मनु० [५।५]

द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों को भी मलीन विष्ठा मूत्रादि के संसर्ग से उत्पन्न हुए शाक फल मूलादि न खाना।

वर्जयेन्मधुमांसं च ॥ मनु० [ २ । १७७ ]

जैसे अनेक प्रकार के मद्य, गांजा, भांग, अफीम आदि—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते ॥

[ शार्ङ्गधर अ० ४ । श्लो० २१ ]

जो २ बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं उनका सेवन कभी न करे ।

( प्रश्न ) एक साथ खाने में कुछ दोष है वा नहीं ? (उत्तर) दोष है, क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती । जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ जाता है वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है सुधार नहीं, इसलिये—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ।

मनु० [ २ । ५६ ]

न किसी को अपना जूठा पदार्थ दे और न किसी के भोजन के बीच आप खावे, न अधिक भोजन करे और न भोजन किये पश्चात् हाथ मुख धोये विना कहीं इधर उधर जाय ।

( प्रश्न ) चौके में बैठके भोजन करना अच्छा वा बाहर बैठ के ? ( उत्तर ) जहां पर अच्छा रमणीय सुन्दर स्थान दीखे वहां भोजन करना चाहिये परन्तु आवश्यक युद्धादिकों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठ के वा खड़े २ भी खाना पीना अत्यन्त उचित है ।

( प्रश्न ) क्या अपने ही हाथ का खाना और दूसरे के हाथ

का नहीं ? ( उत्तर ) जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे तो बराबर सब आर्यों के साथ खाने में कुछ भी हानि नहीं क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री पुरुष रसोई बनाने और चौका देने, बर्त्तन भांडे मांजने आदि बखेड़े में पड़े रहें तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि कभी नहीं हो सके, देखो ! महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा ऋषि महर्षि आये थे एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे जब से ईसाई, मुसलमान आदि के मतमतान्तर चले, आपस में वैर विरोध हुआ, उन्हीं ने मद्यपान गोमांसादि का खाना पीना स्वीकार किया उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा होगया। देखो ! क़ाबुल, कंधार, ईरान, अमेरिका, यूरोप आदि देशों के राजाओं की कन्या गान्धारी, माद्री, उलोपी आदि के साथ आर्य्यावर्त्तदेशीय राजा लोग विवाह आदि व्यवहार करते थे । शकुनि आदि कौरव, पाडवों के साथ खाते पीते थे, कुछ विरोध नहीं करते थे क्योंकि उस समय सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसी में सब की निष्ठा थी और एक दूसरे का सुख, दुःख, हानि लाभ आपस में अपने समान समझते थे, तभी भूगोल में सुख था। अबतो बहुत से मतवाले होने से बहुतसा दुःख और विरोध बढ़ गया है इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सब के मन में सत्य मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों, इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोधभाव छोड़ के आनन्द को बढ़ावें।

यह थोड़ासा आचार-अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य विषय में लिखा। इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध इसी दशवें समुल्लास के साथ पूरा होगया। इन समुल्लासों में विशेष खण्डन मण्डन इसलिये नहीं लिखा

कि जबतक मनुष्य सत्यासत्य के विचार में कुछ भी सामर्थ्य न बढ़ाते तबतक स्थूल और सूक्ष्म खण्डनों के अभिप्राय को नहीं समझ सकते। इसलिये प्रथम सबको सत्य शिक्षा का उपदेश करके अब उत्तरार्द्ध अर्थात् जिसमें चार समुल्लास हैं उसमें विशेष खण्डन मण्डन लिखेंगे। इन चारों में से प्रथम समुल्लास में आर्य्यावर्त्तीय मतमतान्तर, दूसरे में जैनियों के, तीसरे में ईसाइयों और चौथे में मुसलमानों के मतमतान्तरों के खण्डन मण्डन के विषय में लिखेंगे और पश्चात् चौदहवें समुल्लास के अन्त में स्वमत भी दिखलाया जायगा। जो कोई विशेष खण्डन मण्डन देखना चाहें वे इन चारों समुल्लासों में देखें। परन्तु सामान्य करके कहीं २ दश समुल्लासों में भी कुछ थोड़ासा खण्डन मण्डन किया है। इन चौदह समुल्लासों को पक्षपात छोड़ न्यायदृष्टि से जो देखेगा उसके आत्मा में सत्य अर्थ का प्रकाश होकर आनन्द होगा और जो हठ, दुराग्रह और ईर्ष्या से देखे सुनेगा उसको इस ग्रन्थ का अभिप्राय यथार्थ विदित होना बहुत कठिन है। इसलिये जो कोई इसको यथावत् न विचारेगा वह इसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा। विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं ॥ १० ॥

---